॥ श्रीहरिः ॥

571

श्रीकृष्णालीलाका चिन्तन

विशिष्ट संस्करण

गीताप्रेस, गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

जहाँसे जिस लीलास्रोतको मोड़ देती है, अन्तर्हित कर देती है, एवं पुनः उसे उद्‌बुद्धकर प्रसरित कर देती है—इसे तो हम उनकी कृपाशक्तिसे अनुप्राणित होकर किसी अंशमें जान सकते हैं; पर उस स्रोतका मूल एवं उसका पर्यवसान कहाँ है, कहाँ होगा—यह सदा अज्ञात ही रहता है। अभी पाँच प्रहर पूर्वकी ही तो बात है—व्रजेन्द्रसदनमें इस कालियमन्थन-लीलाकी पृष्ठभूमिके रूपमें न जाने कितनी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। पर यह कौन जानता है कि वास्तवमें इनका आरम्भ कहाँ हुआ एवं इनके अवसानबिन्दुकी उपलब्धि कहाँ होगी। जिसे हम इनके मूलके रूपमें अनुभव करते हैं, जिसका हमें प्रसरित होते रहनेका भान होता है और जिसे हम समापकबिन्दु निर्धारित करते हैं, वे तो सचमुच लीलाशक्तिके नियन्त्रणमें अत्यन्त सुदूर—नहीं-नहीं अनादि अनन्त प्रवाहके बिन्दु हैं—जहाँ व्रजराजनन्दनका आनन्दवर्द्धन करनेके लिये, विश्वको उनके स्वरूपभूत निराविल चिन्मय आनन्दरसका दान करनेके लिये लीलाकी धारा अपेक्षित बिन्दुके पास मुड़कर व्यक्त हो गयी है, गन्तव्य दिशाकी ओर निर्धारित बिन्दुतक प्रवाहित हो रही है और फिर वहाँसे उद्देश्य-विशेषके लिये—रसपोषणके लिये अन्तर्हित कर दी गयी है तथा अवसर आते ही फिर व्यक्त हो जायगी। इसे और भी स्पष्टरूपसे हम इन घटनाओंमें देख लें—

इस क्षणसे लगभग साढ़े पाँच प्रहर पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र जननीके द्वारा आस्तृत शय्यापर शयन कर रहे थे—

सिव-सनकादि अंत नहिं पावत, ध्यावत अह-निसि-जामहिं।
सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नँदधामहिं॥

प्रेमविवश व्रजदम्पति भी वहीं सो रहे थे—तममें नहीं, स्नेह-समाधिमें उनका मन विलीन हो रहा था—

सेज मँगाइ लई तहँ अपनी, जहाँ स्याम-बलराम।
सूरदास प्रभु कें ढिग सोए, सँग पौढ़ी नँद-बाम॥

सहसा नीलसुन्दर चौंक उठे। व्रजरानी एवं व्रजेन्द्रने भी दीपकका प्रकाश और भी दीप्त किया और अपने प्राणधनके झिझक उठनेके कारण—वह अशुभ स्वप्न भी उन्होंने जान लिया—

जागि उठे तब कुँवर कन्हाई।
मैया कहाँ गई मो ढिग तैं, सँग सोवति बल-भाई॥
जागे नंद, जसोदा जागीं, बोलि लिए हरि पास।
सोवत झिझकि उठे काहे तैं, दीपक कियौ प्रकास॥
सपनैं कूदि परयौ जमुना-दह, काहूँ दियौ गिराइ।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, जनि हो लाल! डराइ॥

अपने नीलमणिको तो मैयाने हेतु बताकर आश्वासन दे दिया; नीलमणि सुखकी नींद सो भी गये—

मैं बरज्यौ जमुना-तट जात।
सुधि रहि गई न्हात की तेरैं, जनि डरपौ मेरे तात॥

× × ×

अब जनि जैहौ गाइ चरावन, कहैं को रहति चलाइ।
सूर स्याम दंपति बिच सोए, नींद गई तब आइ॥

पर स्वयं नन्दगेहिनीका हृदय दुरदुर कर उठा—

सपनौ सुनि जननी अकुलानी।

जैसे-तैसे इस चिन्तनमें ही निशाका अवसान हो गया। व्रजरानीके हृदयकी टीस भी किसी अचिन्त्य शक्तिने हर ली। अतिशय उमंगमें भरकर वे आज पुनः स्वयं ही अपने नीलमणिके लिये नवनीत प्रस्तुत करने चलीं—

इहि अंतर भिनुसार भयौ।
तारागन सब गगन छपाने, अरुन उदित, अँधकार गयौ॥
जागी महरि, काज गृह लागी, निसि कौ सब दुख भूलि गयौ।

× × ×

मथनहारि सब बगलि बुलाईं, भोर भयौ, उठि मथौ दह्यौ।
सूर नंद घरनी आपुनहू मथन मथानी-नेति गह्यौ॥

इधर तो यह सब हो रहा है, उधर परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस स्वप्नकी सुन्दर-सी भूमिका भी ठीक उसी समय प्रस्तुत हो चुकी है। नराकृति परब्रह्म स्वप्न देख रहे थे तथा उसी समय उन्हींके परम भक्त देवर्षि नारदकी वीणा मधुपुरीके सम्राट् कंसके एकान्त कोष्ठमें झंकृत हो रही थी, प्रभुके हृदयस्वरूप देवर्षि उस नृशंसको परामर्श-दान कर रहे थे—

नारद रिषि नृप सौं यौं भाषत।
वै हैं काल तुम्हारे प्रगटे, काहें उन कौं राखत॥
काली उरग रहै जमुना में, तहँ तैं कमल मँगावहु।
दूत पठाइ देहु ब्रज ऊपर, नंदहि अति डरपावहु॥

यह सुनि कैं ब्रज-लोग डरैंगे, वे सुनिहैं यह बात।
पुहुप सैन जैहैं नँद-ढोटा, उरग करै तहँ घात॥
यह सुनि कंस बहुत सुख पायौ, भली कही यह मोहि।
सूरदास प्रभु कौं मुनि जानत, ध्यान धरत मन जोहि॥

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके यन्त्रभूत देवर्षिकी वह प्रेरणा तुरंत ही क्रियामें भी परिणत हो गयी—

पुनि-पुनि कंस मुदित मन कीन्हौ।
दूतहि प्रगट कही यह बानी, पत्र नंद कौं दीन्हौ॥
कालीदह के कमल पठावहु, तुरत देखि यह पाती।
जैसैं कालिह कमल हाँ पहुँचैं, तू कहियौ इहिं भाँती॥
यह सुनि दूत तुरत हीं धायौ, तब पहुँच्यौ ब्रज जाइ।
सूर नंद कर पाती दीन्ही, दूत कही समुझाइ॥

व्रजेश उस समय तोरणके समीप अवस्थित थे। अंशुमालीकी किरणें व्रजपुरको उद्भासित कर रही थीं। प्रातःका शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर द्रुमवल्लरियोंकी ओटसे झर-झरकर व्रजेशको स्पर्श कर रहा था, किंतु उनकी आँखोंके आगे तो अँधेरा छा गया! अपने नीलमणिकी अनिष्टाशङ्कासे वे काँप उठे। शूलकी-सी वेदना होने लगी। शरीर दुःखभारसे जल-सा उठा। दूत तो चला गया और व्रजेश किसीसे कुछ भी न कहकर अपने शयनागारमें व्रजरानीकी शय्यापर कटे वृक्षकी भाँति आकर गिर पड़े। परिस्थितिकी गम्भीरताका अनुमान कर प्रमुख गोप आ पहुँचे। व्रजेश्वर अत्यन्त विह्वल होकर कहने लगे—

आपु चढ़े ब्रज ऊपर काल।
कहाँ निकसि जैयै, को राखै, नंद कहत बेहाल॥
मोहि नहीं जिय कौ डर नैकहु, दोउ सुत कौं डर पावैं।
गाउँ तजौं, कहुँ जाउँ निकसि लै, इनही काज पराउँ॥
अब उबार नहिं दीसत कतहूँ, सरन राखि को लेइ।

और व्रजरानी व्रजपुर-वनिताओंसे आवृत होकर सोच कर रही थीं। उनकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह झर रहा था—

नंद-घरनि ब्रज-नारि बिचारति।
ब्रजहिं बसत सब जनम सिरानौ, ऐसी करी न आरति॥
कालीदह के फूल मँगाए, को आनै धौं जाइ।
ब्रजबासी नातरु सब मारै, बाँधै बलउरु कन्हाइ॥
यहै कहत दोउ नैन ढराने, नंद-घरनि दुख पाइ।

अब आये नीलसुन्दर। उनके सुमधुर कण्ठकी सुधा-धारासे वहाँका जलता हुआ वातावरण शीतल हो गया—

सूर स्याम चितवत माता-मुख, बूझत बात बनाइ॥

जननी भी उनके बिम्बविडम्बि अधरोंपर आतुर स्नेहका चुम्बन अङ्कित कर बोल उठीं—

पूछौ जाइ तात सौं बात।
मैं बलि जाउँ मुखारबिंद की, तुमही काज कंस अकुलात॥

मैयाकी बात सुन लेनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र बाबाके पास चले, किंतु वहाँ पहुँचनेसे पूर्व ही उनके अपरिसीम ऐश्वर्यकी एक क्षीण रेखा प्रकाशित हो उठी, बाल्यलीलाविहारीकी वह मुग्धता बाहरसे अक्षुण्ण रहनेपर भी भीतर उसका आलोक परिव्याप्त हो उठा और तदनुरूप मन-ही-मन अग्रिम कार्यक्रमका निश्चय हो गया। बाबाने भी स्थिति स्पष्ट कर दी—

आए स्याम नंद पै धाए, जान्यौ मातु-पिता बिलखात।
अबहीं दूरि करौं दुख इनकौ, कंसहि पठै देउँ जलजात॥
मोसौं कहै बात बाबा यह, बहुत करत तुम सोच-बिचार।
कहा कहौं तुम सौं मैं प्यारे, कंस करत तुम सौं कछु झार॥
जब तैं जनम भयौ है तुम्हरौ, केते करबर टरे कन्हाइ।
सूर स्याम कुल देवनि तुमकौं जहाँ-तहाँ करि लियौ सहाइ॥

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रका दिया हुआ मधुरातिमधुर आश्वासन एक साथ सबके कानोंमें गूँज उठा—

तुमहिं कहत, कोउ करै सहाइ।
सो देवता संग हीं मेरैं, ब्रज तैं अनत कहूँ नहिं जाइ॥
वह देवता कंस मारैगौ, केस धरैं धरनी घिसिआइ।
वह देवता मनावहु सब मिलि, तुरत कमल जो देइ पठाइ॥

और अन्तमें व्रजराजदुलारेके होठोंपर नित्य विराजित स्मित मानो किञ्चित् और भी विकसित हो उठा हो, इस प्रकार तनिक-सा हँसकर उन्होंने कुछ और भी कह दिया। पर सच तो यह है कि वे नहीं हँसे, उन्होंने यह बात नहीं कही, यह तो उनकी अघटनघटनापटीयसी योगमाया ही अधरोंके अन्तरालमें हँस पड़ीं और साथ ही अन्तर्हित होनेसे पूर्व व्रजरानी, व्रजेन्द्र, व्रजपुरवासी, व्रजवनिताएँ—सबके स्मृतिपथसे उन्होंने इस घटनाकी सम्पूर्ण स्मृतिको पोंछकर अपने अञ्चलमें भर लिया—

बाबा नंद झखत किहिं कारन, यह कहि मया-मोह अरुझाइ।
सूरदास प्रभु मातु-पिता की तुरतहिं दुख डार्‌यौ बिसराइ॥

सभी इस समय तो सर्वथा भूल गये—'नृशंस कंसका कोई दूत आया था, कमल भेजनेका आदेश है।' और तो क्या, स्वयं अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रने भी पहलेकी भाँति मुग्धताकी चादर ओढ़ ली। सर्वज्ञ सर्ववित् प्रभु भी इसे सर्वथा भूले-से होकर गोसंचारणके लिये वनमें पधार गये।

इस प्रकार लीलामहाशक्तिकी योजनाके अनुसार व्रजेन्द्रनन्दनके अनादि-अन्तविहीन चित्रपटमें यह दृश्य उद्भासित हुआ और फिर मानो ऐसा कुछ भी हुआ ही नहीं—इस रूपमें विस्मृतिका एक घन आवरण इसपर डाल दिया गया। अथवा ऐसे कहें—लीलाप्रवाह अनिर्देश्य-बिन्दुसे प्रसरित होकर दो भागोंमें विभाजित हो गया। एक स्रोत मधुपुरीके कंसप्रासादकी ओरसे होकर आया, अन्य नीलसुन्दरके स्वप्नको छूकर व्रजेश्वरीके वात्सल्यसिन्धुमें एक क्षीण कम्पनका सृजन कर अन्तर्हित हो गया—सदाके लिये नहीं, अपितु समयपर व्रज-दम्पतिकी वात्सल्यमन्थन-लीलामें उस वेदनाके मन्थनदण्डको अत्यधिक गतिशील बना देनेके उद्देश्यसे व्यक्त होनेके लिये। ऐसे ही मधुपुरीकी ओरसे प्रवाहित स्रोत भी कुछ देर तो प्रसरित होता रहा, पर सहसा यह भी अन्तर्हित हो गया। उसीकी भाँति यह भी उचित अवसरपर पुनः व्यक्त अवश्य होगा; किंतु यह होगा व्रजवासियोंको, व्रजेन्द्रदम्पतिको परम उल्लासमें भर देनेके लिये और उससे पूर्व नागवधुओंके हृदयमें करुण-भावका संचार करनेके लिये यह अभी-अभी यहाँ पुनः व्यक्त हो रहा है। श्रीकृष्णचन्द्र इसीलिये तो उस लीलास्रोतसे परिचालित—भावित होकर ही तो नागवधुओंसे कह बैठे हैं—'री! कंसने मुझे कालियके दर्शनके लिये ही तो भेजा है। तुम इसे जगा दो!'

अस्तु, नागवधुएँ कातर होकर बारम्बार आग्रह करने लगती हैं—'रे बालक! तू भाग जा!'—

पुनि-पुनि कहत सूर के प्रभु कौं, तू अब काहें न जाइ पराई।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्र तो वैसे ही हँस रहे हैं। इतना ही नहीं, निर्भय नेत्रोंसे नागपत्नियोंको ही समझा रहे हैं—

कहा डर करौं इहि फनिग कौ बावरी!

और वे सर्पवधुएँ उत्तरोत्तर व्याकुल होती जा रही हैं—कैसे शीघ्र-से-शीघ्र भगा दें इस हठी शिशुको! छलछलाती आँखोंसे वे बार-बार कंसको कोस रही हैं और नीलसुन्दरकी मनुहार कर रही हैं—

कह्यौ मेरौ मानि, छाँड़ि अपनी बानि,
टेक परिहै जानि सब रावरी॥
तोहि देखें मया मोहि अतिही भई,
कौन कौ सुवन, तू कहा आयौ।
मरौ वह कंस, निरबंस वाकौ होइ,
करयौ यह गंस, तोकौं पठायौ॥

इसी समय कालियने करवट ले ली। फिर तो स्नेहविवश नागवधुओंके हृदयका बाँध टूटने-सा लगा—'हाय रे! कैसी भीषण परिस्थितिमें फँसता जा रहा है यह बालक! कैसे समझायें इस सौन्दर्यनिधि हठीले सुकुमार शिशुको!' वे संकेत करती हैं मन्द स्वरमें बोलनेके लिये, पर श्रीकृष्णचन्द्र और भी स्फुट कण्ठसे पुकारने लगते हैं—'री! कंसको मारूँगा, मारूँगा·····।' उत्तर सुनकर—सर्पवधुओंकी आँखें सजल तो पहले थीं ही, उनमें अत्यधिक निराशा भर जाती है और वे अस्फुट अश्रुपूरित कण्ठसे नीलसुन्दरकी 'भवितव्यताजनित' ऐसी बुद्धिको कोसने लगती हैं—

कंस कौं मारिहौं धरनि निरबारिहौं,
अमर उद्धारिहौं उरग-धरनी!
सूर-प्रभुके बचन सुनत उरगिनि कह्यौ,
जाहि अब क्यौं न, मति भई मरनी॥

श्रीकृष्णके द्वारा कालियह्रदके नीचेतक उद्वेलित होनेपर कालियका क्रुद्ध होकर बाहर निकलना, श्रीकृष्णको बार-बार कई अङ्गोंमें डसना और अन्तमें उनके शरीरको सब ओरसे वेष्टित कर लेना; यह देखकर तटपर खड़े हुए गोपों और गोपबालकोंका मूर्च्छित होकर गिर पड़ना

नागवधुओंकी उस स्नेहपूरित भर्त्सनाका भी श्रीकृष्णचन्द्रपर कोई प्रभाव न हुआ, अपितु हँस-हँसकर वे अब अपने चञ्चल कर-कमलोंसे जल बिखेरने लगे। इतना ही नहीं, पलक गिरते-गिरते वे ह्रदके वक्षःस्थलपर उठ आये और मानो संतरण करने जा रहे हों, इस भावसे भुजा फैलाकर जलको थपथपाने लगे। और फिर उनका वह श्यामल कलेवर उस विशाल ह्रदमें सर्वत्र घूमने लगा। वे यथेच्छ विचरण करने लगे। मत्त गजेन्द्रकी भाँति उनका जलविहार आरम्भ हुआ। भुजाओंसे एवं पद-संचालनके द्वारा जल अत्यधिक आलोडित हो गया, एक साथ ही अगणित आवर्त बन गये, तलदेशका जल ऊपर एवं ऊपरका प्रवाह तलदेशकी ओर प्रसरित होने लगा। कालिय-आवासको अस्त-व्यस्त बनाती हुई सहस्रों धाराएँ परस्पर नीचे-ऊपर टकराने लगीं। उनकी चपेटमें आकर सर्पावास सब ओरसे उलटने-सा लगा, कालियके कुटुम्बी सर्पगण अर्धमृत-से होने लगे। तथा लीलाविहारी व्रजेन्द्रनन्दनकी तो यह क्रीड़ा थी, वे जलको पीट-पीटकर जल-वाद्यका स्वर निकाल रहे थे। किंतु कालिय-शयनागारमें यह ध्वनि भीषण वज्रपातके रूपमें व्यक्त हो रही थी, सबके कान फटे जा रहे थे।

अचानक एक उठे हुए आवर्तने निद्रित कालियको स्पर्श किया—ऐसे प्रचण्ड वेगसे कि उसे सर्वथा बाहरकी ओर फेंक दे। और फिर इस झकझोरसे जैसे ही उसकी कराल आँखें खुलीं कि वह अत्यन्त भयावह वज्रनाद-सा शब्द भी उसके कर्णछिद्रोंमें पूरित हो गया। नेत्र तो उसके खुले थे ही एवं उसी पथसे जलताड़नकी ध्वनि भी प्रविष्ट हो रही थी। पर वह कुछ भी निर्णय न कर सका कि यह जलीय झंझावात क्यों, कैसे उत्थित हुआ। साथ ही विविध आशङ्काओंसे अभिभूत होकर वह उद्विग्न हो उठा। 'गरुड तो नहीं आ गये? नहीं, वे नहीं आ सकते। सौभरिके शापका वे अतिक्रमण कर सकें, यह सम्भव नहीं। हाँ, गरुडकी अपेक्षा भी अत्यधिक पराक्रमशाली ही कोई यहाँ आनेका साहस कर सकता है! पर वह है कौन?'—इस चिन्तामें कालियके प्राण चञ्चल हो उठे। मनमें रोष भी भरने लगा; क्योंकि वह स्पष्ट देख रहा है—'इस उद्वेलनमें पड़कर सम्पूर्ण सर्पावास ही छिन्न-भिन्न जो होने जा रहा है। असह्य है यह। तथा क्षणभरका विलम्ब भी न जाने क्या परिणाम उपस्थित कर दे!'—इस प्रकार अधीर होकर कालिय अपने आवासगर्तसे चलकर आखिर बाहर निकल आया। ह्रदके ऊपर आकर उसने अपने फण विस्तारित कर लिये और तब उसकी कराल दृष्टि अपने प्रतिद्वन्द्वीपर पड़ी। फिर तो वह उस ओर ही लपक पड़ा—

अति ऊधम सुनि काली डरयौ,
बज्र परयौ कि गरुर बल करयौ।
अरग अरग आयौ रिस भरयौ,
कोमल कुँवर दिष्टि-पथ परयौ॥

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ८)

विष-कषाय जल घोर तरंगा।
ता महँ कृष्न खेल बहु रंगा॥
हरि-भुज-दंड-पात जल-घोषा।
जनु गज मत्त खेल सह रोषा॥
सो निज सदन सुन्यौ अहिराजू।
सहि नहिं सक्यो पराभव-काजू॥
रोष सहित धायौ खल आसू।
सीघ्र आइगौ कृष्न सुपासू॥

किंतु—'अरे! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्यका निर्झर झर रहा है इसके अङ्गोंसे! कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह! नवजलधरकी श्यामलता भरी है इसकी अङ्गकान्तिमें! वह नीलिमा प्रतिबिम्बित हो रही है ह्रदकी ऊर्मियोंमें। सम्पूर्ण ह्रद ही उस श्याम द्युतिसे उद्भासित हो रहा है। कहाँ गयी इसकी वह विषज्वाला! अब यहाँ तो सर्वत्र सुधाका प्रसरण है, शिशुके अङ्गोंसे प्रसरित आनन्दका प्रवाह है। शिशुके श्याम कलेवरके कटिदेशमें पीताम्बर परिशोभित है। सुविस्तीर्ण वक्षःस्थलपर कैसी शोभा है, स्वर्णाभ दक्षिणावर्त सूक्ष्म रोमराजि (श्रीवत्सचिह्न) की। तथा वेगपूर्ण संतरणके आवेशमें श्रीवत्ससे सटे हुए पीताभ उत्तरीयकी। मृदु-हास्य-समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है। कमलकोशसे भी अधिक सुकोमल कैसे इसके अरुण चरण हैं।'—कालिय एक बार तो विथकित-सा रह गया। आगे बढ़नेकी उसकी गति रुक-सी गयी। पर आसुरी सम्पदासे पूरित ह्रत्तलमें शुभ भावनाएँ स्थिर होतीं जो नहीं। वैसे निमित्त पाकर वस्तुशक्तिके प्रभावसे विद्युत्-रेखा-सी एक ज्योति जग उठती है, सत्यके प्रकाशसे ह्रत्तल आलोकित हो उठता है। किंतु पुनः तिमिरका घन आवरण पूर्वकी भाँति ही हृदयको छा लेता है और प्राणी प्राकृत प्रवाहमें ही बहने लगता है। यही दशा कालियकी हुई। लीलाशक्तिकी अचिन्त्य प्रेरणासे क्षणभरके लिये सर्पके तमोमय हृदयमें एक अत्यधिक छोटा-सा छिद्र बन गया, नीलसुन्दरके अप्रतिम सौन्दर्यकी एक रेखा उस छिद्रसे झलमल कर उठी। किंतु पुनः कालियने उस द्वारको रुद्ध कर लिया। पात्रके अनुरूप ही तो परिणाम होना चाहिये और हुआ ही। कालियने देखा—'इतना कर लेनेपर भी शिशुकी आँखोंमें भयका लेश नहीं, सर्वथा निर्भय रहकर वह उद्दाम क्रीड़ामें तन्मय हो रहा है।' बस, उसके रोषमें आहुति पड़ गयी, क्रोधकी अग्नि धक्-धक् कर जल उठी। अपने-आप उसके सभी फण ऊपर उठ गये, उसके जलते हुए श्वाससे ह्रद धूमिल हो उठा; मुखसे प्राणहारी विषकी धारा बह चली और इस भयंकर वेशमें वह श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये दौड़ चला। वह नहीं जानता—किसकी ओर, किसे भस्म करनेके उद्देश्यसे जा रहा है। वह जान ही कैसे सकता है—

ताकौं कह जानै यह नीच। लोचन भरे महा तम कीच॥

वह तो क्या, कोई भी इस वेशमें नीलसुन्दरको देखकर पहचान ही नहीं सकता। वे अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा किनारे रखकर मुग्ध बाल्यलीला-विहारमें तन्मय जो हो रहे हैं—

बिहरत बिभु अपने रस-रंग। ईस्वरता कछु नाहिंन संग॥

अस्तु, अब कालियको देखते ही बाल्यलीलाविहारी तो भाग चले—भयसे नहीं, उसे और भी कुपित कर देनेके लिये। बायें, दाहिने मुड़ते हुए हँस-हँसकर जल पीटते हुए वे भागे जा रहे हैं तथा उनके पीछे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कालिय दौड़ रहा है। पद-पदपर उन्हें छू लेनेकी सम्भावना नागको हो जाती है, पर पुनः तिलमात्रकी दूरी बचाकर नीलसुन्दर बच निकलते हैं। भला, युग-युगके साधनश्रमसे पूत हुए अपने समाधिसिद्ध चित्तमें अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी क्षणभरको जिनका साक्षात्कार कर लेनेके लिये लालायित रहते हैं, उन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये कालिय उनके पीछे प्रत्यक्ष भागा जा रहा है—यह कितनी आश्चर्यमयी घटना है। बलिहारी है बाल्यलीलाविहारीके इस कृपादानकी। और वह देखो, वहाँ उनके चरण-सरोजके स्पर्शका सौभाग्य भी उस नीचको मिल ही गया—उन अरुण चरण-सरोरुहमें अपने प्राणोंको अनन्तकालके लिये न्योछावर कर देनेके लिये नहीं, अपितु उसमें अपने विषमय दन्त चुभो देनेके लिये। लीला-महाशक्तिकी योजना भी कैसी विचित्र है। नीलसुन्दर हँसते हुए अपनी बङ्किम चितवनसे मुड़-मुड़कर कालियकी ओर देखते हुए—मानो श्रान्त हो गये हों, इस प्रकार—

मन्दगतिसे वे संतरण करने लगते हैं और कालिय लपककर उनके पाद-पल्लवमें दंशन कर लेता है, विष उगल देता है।

'अयँ! यह शिशु मेरे दंशनसे भस्म तो नहीं हुआ, यह तो और भी उल्लासमें भरकर पुनः वेगसे वैसे ही ह्रदके जलको क्षुब्ध करने लग गया।'—कालियके विस्मयकी सीमा नहीं रही। पर प्रतीक्षाका अवकाश भी नहीं। जलती हुई आँखोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देख-देखकर उनके सर्वाङ्गमें ही क्रमशः बारंबार उसने दन्तप्रहार करना आरम्भ किया—जानुओंको क्षत-विक्षत कर देनेकी चेष्टा की, कटिदेशको खण्डित कर देनेका अथक प्रयास किया, नीलसुन्दरके वक्षःस्थलपर न जाने कितनी बार उसने विषमय दन्तोंके भरपूर आघात किये। पर सभी निष्फल; श्रीकृष्णचन्द्रके श्यामल श्रीअङ्गोंमें कहीं कोई तनिक-सा चिह्न भी अङ्कित न हो सका। नीलसुन्दर सर्वथा क्षत-शून्य बने रहे—मानो कालियके विषदन्तोंका स्पर्श ही उनके श्रीअङ्गोंसे न हो सका हो।

'इस शिशुमें कोई अद्भुत सामर्थ्य अवश्य है।'—कालियकी लाल-लाल आँखोंमें निराशाकी एक छाया-सी आयी। पर अभी तो उसका हृदय शत-सहस्र गर्व-पर्वतोंसे परिपूर्ण है। इतनेसे ही वह हार स्वीकार कर ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये इस बार क्रोधकी भट्ठी-सी फूट पड़ी। बड़े वेगसे कालिय झपटा और अपनी अतिशय लंबी देहसे व्रजेन्द्रनन्दनके अङ्गोंको लपेटकर उन्हें चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके उद्देश्यसे भिड़ पड़ा तथा देखते-देखते सचमुच इस बार श्रीकृष्णचन्द्र कालियके उस अत्यन्त विशाल देहसे स्वयं ही पैरोंसे ग्रीवातक वेष्टित हो गये। उन्हें अपनी कुण्डलीमें लपेटकर कालिय—नीलसुन्दरके मुख-सरोजसे किंचित् दूर—अपने फन फैलाये हुए, रोषभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख रहा है और वे कुछ भी प्रतीकार नहीं कर रहे हैं—

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
संदश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ९)

विहरत देख्यौ कृष्न कृपाला।
मेघ-स्याम तन जनु छबिसाला॥
दरसनीय सुकुमार सुहावन।
पीत बसन जन-मन अति भावन॥
है धौं कौन संक महि नेकू।
बिहरै मम मंदिर यह एकू॥
अस बिचारि आवा ढिग आपू।
काट्यौ पग महँ करि अति दापू॥
प्रभु तन लपटि गयौ सब अंगा।
महा कूर मद मत्त भुअंगा॥

इधर मानो क्षणोंमें ही इतनी घटना घटित हो गयी—तटपर अवस्थित गोप-शिशुओंने यही अनुभव किया। 'हमारे कन्नू भैया उत्तुङ्ग कदम्बसे कूदे, एक बार आधे क्षणके लिये पतनके वेगवश जलके भीतर चले गये, पर तुरंत ही ऊपर उठ आये, उद्दाम जल-विहारमें संलग्न हो गये; वह अत्यन्त भयंकर कालिय भी बाहर निकला, उनके पीछे वह भी दौड़ने लगा, अरे! हाय रे! वह फनोंसे हमारे कन्नूको मार रहा है। पर नहीं, हमारा कन्नू तो हँस रहा है। नहीं, हाय रे हाय! कन्नू भैयाको तो उसने कुण्डलीमें लपेट लिया।'—इतनी बातें वे बालक कुछ क्षणोंमें ही देख गये। किंतु जब नीलसुन्दर कालिय-कुण्डलीमें वेष्टित हो गये, तब उनके प्राण स्थिर रह सकें—यह भी कभी सम्भव है? इसीलिये एक साथ अगणित कण्ठोंके चीत्कारसे समस्त तट नादित हो उठा, 'हाय रे·····—मेरा कन्नू·····!' का अत्यन्त करुण आर्तनाद सुदूर वन-प्रान्तरोंके कण-कणमें गूँज उठा और फिर सर्वत्र ही एक क्षणिक गम्भीर नीरवता छा गयी; क्योंकि उन शिशुओंके बाहर आते हुए प्राणोंने जब यह देख लिया कि नीलसुन्दर कुण्डलीबन्धनमें निश्चेष्ट हो गये हैं, तब वे भी सदाके लिये सो जानेके उद्देश्यसे तत्क्षण ही मूर्च्छामें विलीन हो गये। वहीं, तटपर ही—जहाँ अवस्थित थे—वे असंख्य शिशु भी गिरकर निष्पन्द हो गये। केवल वे ही नहीं, संनिकटवर्ती, व्रजपुरके वयस्क गोप, जो चीत्कार सुनकर दौड़ आये थे, वे भी व्रजेन्द्रनन्दनको नागबन्धनमें बँधा देखकर एक साथ गिर पड़े। आँखें फाड़कर वे एक क्षण तो

नन्दनन्दनको उस अवस्थामें देख सके, किंतु वह वेदना उनके हृदयके लिये असह्य हो गयी; उस चिन्ताका भार उनका मस्तिष्क वहन न कर सका। 'नन्दनन्दनके बिना हमें जीवित रहना होगा'—इस भयसे प्राण अभिभूत हो गये और इन सबोंने मिलकर उनकी बुद्धिका संतुलन नष्ट कर दिया। बस, सँभलनेकी शक्ति समाप्त हो गयी; और समयोचित कर्तव्यकी ओर बढ़नेसे पूर्व वे वयस्क गोप भी शिशुओंके समान ही अचेत हो गये। तथा यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त इनकी अन्य कोई साध जो नहीं। इनका सर्वस्व समर्पित है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रके लिये। श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही इनकी समस्त चेष्टाएँ हैं। इनका सौहार्द है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति; इनके अन्य सुहृदोंके प्रति भी जो इनका स्नेह है, वह है सर्वथा श्रीकृष्णचन्द्रके निमित्तसे। इनके धन हैं केवल श्रीकृष्णचन्द्र; इनका लौकिक धन भी है केवल श्रीकृष्णसेवाकी सामग्री। और जो वयस्क हैं, उन्होंने भी दार-परिग्रह अपने ऐन्द्रिय-सुखके लिये नहीं किया, ये तो एकमात्र श्रीकृष्णकी सेवाके उपकरण एकत्र किये हैं उन्होंने। इनमें अन्य कोई इच्छा नहीं, वासना नहीं; वहाँ उन सबके मनमें केवल विशुद्ध अभिलाषा है—'नीलसुन्दर सुखी हों।' किंतु जब वे व्रजराजनन्दन ही उनकी दृष्टिके सामने महाघोर विषधर कालियके बन्धनमें आकर स्पन्दहीन, निमीलित-नेत्र शान्त हो गये हैं, उन्हें छोड़कर चले गये दीख रहे हैं, तब फिर वे क्यों रहें?—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। १०)

सकल अंग अहि लपटयौ देखी।
भयौ सखन हिय सोच बिसेखी॥
जिन के कृष्न प्रान-धन-गेहा।
सुत-कलत्र सोइ परिजन देहा॥
अपर न प्रिय जिन कहँ संसारू।
एक कृष्न बिनु सकल असारू॥
भए मूढ बुद्धी बिकल, तन मन सुधि गइ भूलि।
गिरे भूमि पर तुरित सब, को तिन के समतूलि॥

× × ×

मुरछि परे ठाँ-ठाँ सब ऐसें। सुंदर तरु बिन मूलहि जैसें॥

और उन मूक पशुओंकी—गो-गोवत्स, वृष-महिषोंकी क्या दशा हुई, इसे वास्तवमें कौन जान सकता है। उनके पास वैसी वाणी नहीं, जिसके द्वारा वे अपने हृदयकी पीड़ा यथावत् व्यक्त कर सकें। पर वे जिस आर्त स्वरमें डकारने लगते हैं, वह प्राणोंकी व्यथासे पूर्णतया सनकर बाहर आया है—यह तो नितान्त स्पष्ट है ही। निश्चित रूपसे, अपने पालक नीलसुन्दरको इस विपन्न अवस्थामें देखकर उनके प्राण भी रो रहे हैं, इसके प्रमाण हैं उनके नेत्र। उनकी भीतिभरी आँखें लगी हैं नागबन्धनमें बँधे हुए व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर तथा उनसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बहता जा रहा है!

और तो क्या, इस करुण चीत्कारको सुनकर अरण्यके पशु—मृग, मृगी आदि भी एकत्रित हो गये हैं; वे भी रो रहे हैं। विहंगमोंका समूहतक आर्तस्वरमें कोलाहल कर रहा है। मानो सचमुच ही व्रजपुरके स्थावर-जंगम जीवोंके समस्त सुखोंका अवसान हो गया हो—

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ११)

धेनु बत्स बृष जाति, करहिं सब्द करुना सहित।
जनु रोवहिं बहु भाँति, देखि नाथ क्रीडा रहित॥

× × ×

जुरे धेनु के बृन्द संघट्ट आवैं।
करैं नाद कौं फेरि हुंकारि धावैं॥
मृगी आदि पक्षी भये सोककारी।
लखैं जीव संसार के बेसुखारी॥

अपशकुन देखकर नन्द-यशोदा एवं बलरामजीका तथा अन्य व्रजवासियोंका नन्दनन्दनके लिये चिन्तित हो एक साथ दौड़ पड़ना और श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंके सहारे कालीदहपर जा पहुँचना और वहाँका हृदयविदारक दृश्य देखकर मूर्च्छित हो गिर पड़ना

व्रजराजमहिषी अपने प्राणधन नीलसुन्दरके लिये रुचिकर भोग-सामग्रीका निर्माण करने चली थीं कि एक ग्वालिन छींक बैठी। तुरंत ही मुहूर्त-परिवर्तनके उद्देश्यसे जननी आँगनमें चली आयीं और कुछ क्षण विश्राम करनेके अनन्तर मङ्गल द्रव्योंका स्पर्श कर पुनः पाकशालाकी ओर लौटीं। पर यह लो, आगेके पथको काटती हुई वह बिल्ली भाग चली। व्रजरानीका हृदय दुर्-दुर् करने लगा। चिन्ताकुल हुई वे भवनसे बाहर आ गयीं, तोरणद्वारके समीप जा पहुँचीं, किंतु कुशकुन यहाँ भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगे। बायीं ओर अशुभ स्वरमें वह काक बोल रहा था और दाहिने गर्दभका रेंकना सुन पड़ा। फिर तो हृदय थामे जननी यशोदा, बाहरसे भीतर, भीतरसे बाहर गमन करती हुई रुँधे कण्ठसे अपने नीलमणिको पुकारने लग गयीं; मनमें शान्तिका लेश भी न रह गया—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीकी॥
आइ अजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मंजारी आगें ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आइ॥
ब्याकुल भई, निकसि गइ बाहिर, कहँ धौं गए कन्हाई।
आएँ काग दाहिनें खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई॥
खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

इधर प्रासादसे संलग्न गोष्ठमें विराजित व्रजेशका मन भी सहसा उत्साहशून्य हो गया। वे अन्यमनस्क-से हुए अविलम्ब गृहकी ओर चल पड़े तथा द्वारपर पैर रखते-न-रखते अनेक अशुभ शकुन उन्हें भी हो गये।

देखे नंद चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाएँ, दहिनें धाह सुनावत॥
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई॥

सामने म्लानमुख यशोदारानी दीख पड़ीं। खिन्न-मन हुए व्रजेश उनसे बोले—

नंद घरनि सौं पूछत बात।
बदन झुराइ गयौ क्यौं तेरौ, कहाँ गए बल, मोहन तात?

अब तो नन्दगेहिनीकी आँखोंसे झर-झर अश्रु-प्रवाह बहने लगा; साथ ही अस्फुट कण्ठसे उन्होंने अपनी मनोव्यथा भी व्रजेशपर व्यक्त कर दी—

भीतर चली रसोई कारन, छींक परी तब आँगन आई।
पुनि आगे ह्वै गई मँजारी, और बहुत कुसगुन मैं पाई॥

व्रजदम्पतिकी दशा एक-सी हो गयी। आसन्न अमङ्गलकी प्रतिच्छाया दोनोंके हृत्पटपर झिलमिल कर उठी, दोनों ही पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे—

महर-महरि-मन गई जनाइ।
खन भीतर, खन आँगन ठाढ़े, खन बाहिर देखत हैं जाइ॥

इतनेमें व्रजपुरन्ध्रियाँ दौड़ती हुई आयीं। गोप भी आ पहुँचे। कारण स्पष्ट था; अत्यन्त भयंकर अशुभसूचक चिह्न समस्त व्रजपुरवासियोंको ही स्पष्ट दीख जो रहे हैं—'ग्रीष्मकालके मध्याह्नमें सूर्यकी ओर मुँह उठाकर उपवनके समीप शृगाल—अशुभकी सूचना देते हुए—बोलते ही जा रहे हैं! वायु-परिचालित धूलि-कणोंसे परिव्याप्त न होनेपर भी दिक्-सुन्दरियाँ—दिशाएँ धूएँसे धूमिल, अत्यन्त म्लान हो गयी हैं, महिष-शृङ्गके वर्णके समान वे काली पड़ गयी हैं! स्वयं दिनमणि सूर्य भी एक निस्तेज मणिके समान प्रतीत हो रहे हैं! सुख-स्पर्शी पवन भी एक झंझावातके रूपमें अनुभूत होने लगा है! व्रजकी धरा अभूतपूर्व रूपसे बारम्बार कम्पित हो रही है! पुरवनिताओंके दक्षिण नेत्र, दक्षिण अङ्गोंमें स्पन्दन हो रहा है एवं व्रजगोपोंके वाम नेत्र, वाम अङ्ग स्पन्दित हो रहे हैं!—

यथा दिनकरमुखाभिमुखमुखरताखरतार-ध्वनिध्वनिताशिवाभिः शिवाभिः। निर्धूलीधूलीडाभिरपि धूमधूमलतया मलीमसतया संवादिगवलाभि-र्दिगवलाभिः। विडम्बितनिर्महोमणिनाहोमणिना। खरतरस्पर्शनेन स्पर्शनेन। बभूवे भूवेपथुना पृथुना पृथगेव। पस्पन्दे वामनयनावामनयनादि पुंसां तु वामनयनादि।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार गोपावासके अन्तरिक्षमें, भूमिपर, पुरवासियोंके अङ्गोंमें—तीनों प्रकारके ही अत्यन्त घोर, आसन्न-विपत्-सूचक चिह्न व्यक्त हो रहे हैं—

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १२)

व्रज में त्रिविध भएउ उतपाता। दिवि भू अंतरीछ दुखदाता॥

व्रजेश्वरका, व्रजगोपोंका धैर्य जाता रहा। इन प्रलयंकर अपशकुनोंको देख-देखकर उनके प्राण भयसे प्रकम्पित होने लगे। उसी समय वहाँ कन्हैयाके अग्रज बलराम आ पहुँचे। सबकी दृष्टि उनपर पड़ी। फिर तो रही-सही आशा भी समाप्त हो गयी। अहह! कदाचित् नीलसुन्दरके साथ बलराम होते! श्रीरोहिणीका परम तेजोमय, मङ्गलमय यह शिशु नन्दनन्दनकी रक्षाके लिये वहाँ उपस्थित होता, तब तो कोई भी अनिष्ट अपने-आप निवारित होकर ही रहता!—पुरवासियोंकी अन्तश्चेतनाकी यह भावना, सरलमति व्रजरानी, व्रजराजकी यह प्रेमिल धारणा सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार करती आयी है; किंतु हाय रे दैवयोग! आज तो बिना बलरामको साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्र गौएँ चराने चले गये हैं—

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १३)

कहत कि आज राम बिनु स्याम,
बन जु गए, कछु बिगरयौ काम।

'कुछ ही नहीं, सब कुछ नष्ट हो गया दीखता है! इन दुर्निमित्तोंका और अर्थ ही क्या है? बस, नीलसुन्दर हम सबोंको छोड़कर चला गया.....।'—

कृष्णगतप्राण, कृष्णाविष्ट-हृदय समस्त पुरवासियोंका, व्रजदम्पतिका एक-सा ही निर्णय हुआ; क्योंकि अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्ध्व माहात्म्यकी स्फूर्ति इनके वात्सल्य-परिभावित चित्तमें कभी होती जो नहीं। वहाँ निरन्तर वात्सल्य-सिन्धु ही उद्वेलित होता रहता है। अपना सर्वस्व न्योछावर कर वे सब-के-सब सतत नीलसुन्दरके सुखकी कामना लिये उस पारावार-विहीन सागरकी ऊर्मियोंमें ही अवगाहन करते रहते हैं। इसीलिये जिनके एक नामके उच्चारणमात्रसे ही समस्त अमङ्गलोंका अवसान हो जाता है, उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये भी पद-पदपर उन्हें अमङ्गलका ही भान होने लगता है, उनके प्राणोंमें टीस चलने लगती है और फिर आज जब एक साथ इतने अधिक अमङ्गल-सूचक, घोर उत्पात समस्त व्रजपुरवासियोंको ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब फिर उनके कोटि-प्राण-प्रतिम नीलसुन्दरके सम्बन्धमें अनिष्ट-आशङ्काकी सीमा रहे, यह तो सोचना ही नहीं बनता। यही कारण है कि उनके मनमें नीलसुन्दरके निधनकी कल्पना ही जाग्रत् हुई तथा ऐसी स्फूर्ति होनेके अनन्तर वे पुरवासी एवं व्रजदम्पति प्रकृतिस्थ रह सकें—यह कहाँ सम्भव है! बस, एक साथ दुःख, शोक, भयके अनन्त भारसे अभिभूत हुए उनके प्राण मानो बाहरकी ओर भाग छूटे हों, प्राण-तन्तुओंसे संनद्ध शरीर बरबस उस ओर ही खिंचता जा रहा हो—इस प्रकार समस्त व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति, सभी नितान्त विक्षिप्त-से हुए, गोकुलसे निकल पड़े। एक बार श्रीकृष्णचन्द्रको देख लेनेकी लालसा, अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिको मानो अन्तिम बार ही जिस किसी अवस्थामें भी निहार लेनेकी वासनामात्र उनमें अवशिष्ट है—बस, इतना ही उन्हें स्मरण है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उनके चिरजीवनकी साधना, उनके स्नेहकी स्रोतस्विनी एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही सदा अविराम गतिसे ही प्रसरित होती रही है। प्रतिदानमें नीलसुन्दरकी ओरसे स्नेह पानेकी वासनाका भी उनमें अत्यन्त अभाव रहा है। मानव-वात्सल्यमें तो फिर भी अपनी संततिके प्रति कर्तव्यकी भावना, कर्तव्यपालनसे उद्भूत आत्मतोषकी अनुभूति और भविष्यके गर्भमें संचित,

उस अपनी संततिके द्वारा स्नेह-प्रतिदानकी आशा न्यूनाधिकरूपमें परिव्याप्त रहती ही है; किंतु एक पशु अपने नवजात शावकको जिस निराविल अन्ध-स्नेहका दान करता है—उस पशुमें इतिकर्तव्यताका भान नहीं, कर्तव्यपूर्तिजन्य आत्मतोषको हृदयंगम करनेकी शक्ति नहीं, काल-प्रवाहमें अपने उस शावकके द्वारा उपकृत होनेकी सुप्त वासनाकी छायातक नहीं, फिर भी प्राणोंकी जिस उत्कण्ठासे वह दूर गये नवजात शावककी ओर धावित होता है,—ठीक उसी प्रकार ये व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति नितान्त अन्धवात्सल्य-स्नेहकी धारामें बहते हुए—स्नेहदानमें उस पशुके शावक-वात्सल्यकी समता धारण किये हुए 'पशुवृत्तयः'—दौड़े जा रहे हैं। कहाँ जाना है, किस स्थलपर जानेसे उन्हें अपने प्राणधन नीलसुन्दरके दर्शन होंगे—यह भी उन्हें पता नहीं। पर एक सूत्रमें बँधे हुए-से, आबाल-वृद्ध, सभी अत्यन्त द्रुतगतिसे एक ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। पुर-सुन्दरियोंका केश-बन्धन उन्मुक्त हो चुका है, आवरक वस्त्र अस्त-व्यस्त हो चुके हैं, गोपोंकी शिखाएँ खुल गयी हैं—पद-पदपर स्खलित होते, भूमिपर गिरते-उठते वे सब चले जा रहे हैं। और उन अगणित कण्ठोंसे निःसृत 'हाय रे! कृष्ण रे!' का करुणनाद वन-प्रान्तरको प्रतिनादित कर दे रहा है—

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निजगम्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १४-१५)

देखि बड़ौ उतपात कठोरा।
निधन मानि मन संक न थोरा॥
बाल-बृद्ध नर-नारि समेता।
ब्याकुल तजि-तजि चले निकेता॥
कृष्न प्रानधन जीवन जासू।
घर किमि रहैं दरस हरि प्यासू॥
जानत नहिं प्रभाव हरि केरा।
एहि तें मन दुख भएउ घनेरा॥

× × ×

अति कलमले बिरह दलमले, बाल-बिरध सब कानन चले।

× × ×

देखि यहाँ उतपात तहाँ ब्रजनंद जहाँ उर में दुख ल्याइ कैं।
राम बिना बन स्याम गए छबि-धाम, कहाँ फिरिहैं भय पाइ कैं॥
सो सुनि गोपबधू जसुधा फिरि रोहिनि ग्वाल उठे अकुलाइ कैं।
संक भरे सब धाइ परे, कब देखिबौ मोहन-मूरति जाइ कैं॥

उनके साथ रोहिणीनन्दन श्रीबलराम भी हैं। अवश्य ही, उनके श्रीमुखपर क्लान्ति नहीं, व्यथा नहीं, चिन्ताकी छायातक नहीं; अपितु उनके अधरोंपर तो स्फुट हास्य भरा है। क्यों न हो? श्रीरोहिणी, व्रजरानी, व्रजेश, व्रजपुरवासियोंकी दृष्टिमें भले ही वे बलराम शिशु हों; पर वास्तवमें वे हैं भगवान् पुरुषोत्तमके द्वितीय व्यूह, मूल 'सङ्कर्षण' ही तो। उन सर्वशक्तिमान् सर्वविद्याधिपतिसे क्या छिपा है? अपने अनुजकी समस्त योजनाओंसे, उनके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यसे वे चिरपरिचित हैं। उनके विषयमें भय, विस्मय, चिन्ताके लिये अवसर ही कहाँ है? हाँ, जननी यशोदा एवं नन्दबाबाका म्लान मुख देखकर रोहिणीनन्दन शान्त स्थिर रह सकें, उनके कण्ठदेशमें अपनी भुजाएँ डालकर उनके प्राणोंको शीतल न करें, यह अबतक नहीं हुआ था; किंतु आज अपनी प्राणप्रिय मैयाको, बाबाको, स्वजनोंको एवं समस्त व्रजपुरवासियोंको श्रीकृष्ण-वियोगकी सम्भावनासे अत्यधिक व्यथित—व्याकुल देखकर भी वे कुछ नहीं बोले, केवल मृदु हँसी हँसकर रह गये। कौन जाने व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अग्रज सङ्कर्षणदेवकी अभिसंधिको!

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः।
प्रहस्य किंचिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। १६)

तिन सौं कछु न कहत बलदेव, जानत हरि भैया की भेव॥

अस्तु, गोपावाससे बाहर आते ही पुरवासियोंकी दृष्टि नीलसुन्दरके मनोहर पद-चिह्नोंपर जा पड़ी। वृन्दाकाननकी धरापर अङ्कित वे चिह्न मानो स्पष्ट ही संकेत कर रहे थे—'आओ, आओ, अपने नीलमणिको हमारे सहारे ढूँढ़ लो।' उनमें संशयके लिये स्थान ही नहीं था, स्पष्ट ही उन पदचिह्नोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणतलके चिह्न व्यक्त हो रहे थे। साथ ही रविनन्दिनी श्रीयमुनाके तटकी ओर जानेवाले मार्गमें ही वे अङ्कित थे। फिर तो यह प्रत्यक्ष हो ही गया कि आज श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराजकी ओर न जाकर

कलिन्दतनयाकी ओर गोसंचारण करने गये हैं। पुरवासियोंने उन चिह्नोंका ही अनुसरण किया और उसके सहारे ही देखते-देखते वे यमुनातटपर आ पहुँचे। यह बात नहीं कि केवल श्रीकृष्णचरण-चिह्न ही वहाँ व्यक्त हुए हों। असंख्य गोपशिशुओंके एवं उनसे परिचालित असंख्य धेनुसमूहोंके पदचिह्न भी वहाँ अङ्कित थे; और उनके अन्तरालमें सम्पृक्त हो रहे थे अब्ज, यव, अङ्कुश, वज्र, ध्वज आदि चिह्नोंसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके चरणचिह्न। इस प्रकार गोसंचारणका वह वनपथ असंख्य चिह्नोंसे परिव्याप्त था। किंतु समस्त पुरवासियोंकी, व्रजदम्पतिकी आँखें केन्द्रित हो रही थीं—एकमात्र गोपसमाजके उन अनोखे अध्यक्षके अब्ज-यवादि-परिशोभित ललित पदचिह्नोंपर ही; उनके प्राण स्पर्श कर रहे थे एकमात्र उनको ही। इसके अतिरिक्त, असंख्य गोधन भी इस मार्गसे ही अग्रसर हो चुका है, अन्य गोपशिशु भी इस पथसे ही गये हैं, उनके चिह्न भी यहाँ स्पष्ट व्यक्त हो रहे हैं—इसे वे देखकर भी न देख सके। कहीं भी वे भ्रमित न हुए। हो ही कैसे सकते, श्रीकृष्णचरण-चिह्नोंका प्रभाव ही निराला है; उनपर अपनी दृष्टि लगाये चलनेवालेके मार्गमें कहीं कदापि भ्रम होता जो नहीं। उन चिह्नोंको कोई भी प्राणी आच्छादित नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहता; सबके प्राणोंकी निधि हैं वे। और तो क्या, जड-भावापन्न पवनसे संचालित रजःकण भी उनकी स्पष्टताको लुप्त नहीं कर सकते। वे तो जहाँ जिस स्थलपर एक बार अङ्कित हो उठते हैं, वहाँ उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है। अलंकार हैं वे उस स्थलके, भूमिके! तथा उनके सहारे, एकमात्र उन्हींका निरीक्षण करते हुए चलनेवालोंके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ लेना सदा ही सहज है। इसीलिये वे गोप, गोपसुन्दरियाँ, व्रजराज, व्रजरानी—सभी केवल उन्हें ही देखते हुए शीघ्र-से-शीघ्र यमुना-तीरपर चले आये।

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम्॥
ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः॥
(श्रीमद्भा १०। १६। १७-१८)

ध्वज-जव-अब्ज-गदादि तहँ, मत्स्य धनुष की रेख।
इन चिह्नन चिह्नित धरा चले सकल अवरेख॥

× × ×

चरन-सरोज-खोज ही लगे, जिनमें सुभ लच्छन जगमगे।
अरि, दर, मीन, कमल, जव जहाँ, अंकुस, कुलिस, ध्वजा छबि तहाँ॥
ता रज कहुँ सिव, अज नित बंछत, अनुदिन सनक-सनंदन ईछत।
तिहि सिर धारत अतिसय आरत, कृष्न-कृष्न-गोबिंद पुकारत॥

× × ×

इमि खोजत पहुँचे सरि-तीरा।
रबितनया, जेहि जल गंभीरा॥

किंतु यहाँ आनेपर, तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायासे आगे होते ही—'हाय रे! यह मार्ग तो एकमात्र कालियह्रदकी ओर ही गया है।'—सबके प्राण एक साथ ही मानो ह्रदके उस विषम विषकी स्मृतिमात्रसे भस्म हो उठे। इसके अनन्तर उस सघन वनकी सीमाको श्रीकृष्णचरणचिह्नोंके सहारे ही उन सबने पार तो अवश्य किया और फिर इस पार आकर निर्वृक्ष स्थलपर भी अग्रसर होने लगे; किंतु अब उनके शरीरमें स्पन्दनकी शक्ति स्वाभाविक थी या सर्वथा किसी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा देहके उन स्नायुजालोंमें प्राणका संचार हो रहा था और उससे अनुप्राणित हुए वे दौड़े जा रहे थे—यह निर्णय कर लेना अत्यन्त कठिन है। कुछ भी हो, ह्रदके परिसरमें तो वे आ ही पहुँचे और दूरसे ही क्रमशः उनकी फटी-सी आँखोंमें वह कराल दृश्य भर गया—चारों ओर प्राणशून्य-से असंख्य गोपशिशु, मृतवत् अगणित तरुण गोप तथा सर्वथा ह्रदके जलके समीप प्रतिमा-सी अचल, अपलक असंख्य गायें, जिनमें जीवनका चिह्न इतना-सा ही अवशिष्ट है कि रह-रहकर वे अत्यन्त करुण स्वरमें डकार उठती हैं—

गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च संक्रन्दतः.....।
(श्रीमद्भा० १०। १६। १९)

सुर उच्च रावहतीं धेनुजाल। छिति परे मूर्छि गोपाल बाल॥

इसके पश्चात् तो सचमुच ही किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उन पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके शरीरोंको आकर्षितकर ह्रदके कुछ और समीप पहुँचाया, जहाँसे ह्रदयविदारक घटनाका मुख्य अंश भी व्यक्त होकर ही रहा। नेत्र-कोयोंमें सबकी पुतलियाँ तो ऊपर टँग ही चुकी थीं, पर निर्वाणसे पूर्व मानो दीपकी ज्योति उद्दीप्त हो उठी हो, इस प्रकार ज्योतिकी एक क्षीण रेखा उन सबके दृग्गोलकोंमें अपने-आप झिलमिल कर उठी और सबने यह भी देख ही लिया—'उस ह्रदमें कालियके विशाल शरीरसे आकण्ठ लपेटे हुए, आवृत हुए नीलसुन्दर चेष्टाशून्य हो चुके हैं।'

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य"।

(श्रीमद्भा० १०। १६। १९)

दह में दिष्टि परे बनमाली, लपटि रह्यौ तन कारी काली।

और अब—ओह! तटपर सबसे प्रथम गिर पड़े व्रजेश! गिरनेसे पूर्व उनके रुद्धकण्ठकी वह आर्त्तध्वनि वहाँ बिखर उठी—

हा तात! तातवत्सल! किं कृतमतिसाहसं सहसा"""""। (आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'हाय! मेरे लाल! तू तो मुझे अतिशय प्यार करता था रे! तू सहसा ऐसा दुस्साहस कैसे कर बैठा—तू मुझसे पहले कैसे चला गया?'

फिर एक क्षणमें ही लुढ़क पड़े वे सब-के-सब गोप—

व्रजजनप्रिय! वत्स! विपद्यते व्रजजनस्तव दर्शय संनिधिम्।
अहह! हा! बत हेत्यनुलापिनस्तमभितः पतिता भुवि गोदुहः॥

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! व्रजवासी तुझे कितने प्रिय थे। किंतु वत्स नीलमणि! तेरे वे प्रिय व्रजजन मृत्युके मुखमें, यह लो, चल पड़े! तू बता दे मेरे लाल! अब तेरा सङ्ग कहाँ मिलेगा? आह! अरे! हाय रे!·····!—इस प्रकार विलाप करते हुए वे व्रजेशको घेरकर धराशायी हो गये।'

तथा व्रजरानी? ओह! मूर्च्छाके लिये भी उनकी अपरिसीम वेदनाका भार सर्वथा असह्य है। वे तो ह्रदके परिसरमें आकर न जाने कितनी बार गिर चुकी हैं, पर उनको स्पर्श करते ही वेदनाकी ज्वालामें मूर्च्छा स्वयं जलने लगती है—छोड़कर भाग खड़ी होती है। इसीलिये व्रजरानी कुछ क्षण विलम्बसे भी आयीं। पर आकर अपने नीलमणिको उस स्थितिमें देख लेनेपर उनकी क्या दशा हुई—ओह! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि संकेततक कर दें। और यही दशा उनकी अनुगामिनी उन समस्त पुरसुन्दरियोंकी हुई। हाँ, किसीके श्रीकृष्ण-रस-भावित, पर अत्यन्त आकुल प्राण व्रजरानी एवं व्रजसुन्दरियोंकी करुण-दशाकी छायाकी प्रतिच्छायाको किसी नगण्यतम अंशमें इतना भर भले छू लें—'क्षणभरके लिये एक तुमुल आर्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक अत्यन्त भयावह नीरवता छा जाती है।'

और यह सत्य है—कदाचित् अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिकी योजनासे नाग-परिवेष्टित नीलसुन्दरके उन मनोहर कर्णकुण्डलोंमें रह-रहकर पर्याप्त कम्पन न होने लगता, सर्प-कुण्डलीका आवरण रहनेपर भी—न जाने कैसे—नीलसुन्दरकी वनमाला, उनके पीतपटकी आभा व्यक्त न होने लगती, तथा प्राणतन्तुओंके सहारे इनसे जुड़े हुए पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके ह्रत्पटपर ये प्रतिबिम्बित न होने लगते तो ह्रदके तटपर छायी हुई यह नीरवता समस्त व्रजपुरके महानिर्वाणमें परिणत हो जाती। किंतु वह लीला-क्रम है जो नहीं। इसीलिये सबके ह्रत्तलमें अमृत, विष—दोनोंका ही युगपत् संचार हो रहा है। एक ओरसे प्रवाहित हो रही है नीलसुन्दरकी रूप-सुधा तथा दूसरी ओरसे भरी जा रही है कालियकी करालता!—

झुकि रह्यौ मुकुट मंजुल अमोल।
कच बिथुरि श्रवन कुंडल बिलोल॥
सुभ बक्षमाल उरझी दिखाइ।
कटि कस्यौ पीत पट दृढ़ सुभाइ॥
सब अंग नाग लपट्यौ प्रचंड।
जनु सघन घटा मिलि घन घुमंड॥

श्रीकृष्णको कालियके द्वारा वेष्टित एवं निश्चेष्ट देखकर मैया और बाबाका तथा अन्य सबका भी ह्रदमें प्रवेश करने जाना और बलरामजीका उन्हें ऐसा करनेसे रोकना और समझाना; श्रीकृष्णका सबको व्याकुल देखकर करुणावश अपने शरीरको बढ़ा लेना और कालियका उन्हें बाध्य होकर छोड़ देना

'भुवनभास्करके बिना दिन कैसा, चन्द्रदेवके बिना रजनी कैसी? नीलसुन्दरके बिना व्रजमें रखा ही क्या है? उन्हें साथ लिये बिना ही हम सब गोकुलमें लौट जायँ—यह भी कभी सम्भव है? वारिहीन, सौन्दर्यविरहित सरोवरके समीप कौन जाता है?'—

दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा।
.....विना कृष्णेन को व्रजः॥
विनाकृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम्।
अरम्यं नातिसेव्यं च वारिहीनं यथा सरः॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ७। २७-२८)

'बस चलो, यशोदारानीके साथ हम सभी इस विशाल ह्रदमें डूब जायँ!'—

सर्वा यशोदया सार्द्धं विशामोऽत्र महाह्रदम्।

(श्रीविष्णुपु० ५।७। २६)

—इस प्रकार मूर्च्छामें लीन वात्सल्यवती व्रजपुरन्ध्रियोंके प्राणोंपर स्पन्दित होती हुई ये भावनाएँ उन्हें बाह्य चेतनाकी ओर ले चलीं।

इधर वे गोपबालिकाएँ, जिनका अभी-अभी नवविवाह हुआ था, विवाहके अवसरपर, अन्य किसीकी दृष्टिमें कुछ भी नवीनता संघटित न होनेपर भी जिन अधिकांश दुलहिन बनी बालिकाओंने ही एक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटनाके दर्शन किये थे; विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न होते हुए, भाँवर फिरते समय आदिसे अन्ततक जो स्पष्ट अनुभव कर चुकी थीं कि वरके—उस भावी पतिके अणु-अणुमें नीलसुन्दर भरे हुए हैं, उनके साथ भाँवरें नीलसुन्दरने ही दीं, सर्वथा उनका पाणिग्रहण नीलसुन्दरने ही किया, क्षणभरके लिये भी वह वर उनकी दृष्टिमें न आया, जिसके साथ सगाईकी बात सुनी गयी थी और इस प्रकार अनुभव करके जो भ्रान्त-सी बन गयी थीं; जिनका जीवन ही कुछ और-सा बन गया था—कभी तो वे इस घटनाको स्मरण करतीं और कभी उन्हें सर्वथा इसकी विस्मृति हो जाती, पर निरन्तर एक विचित्र-सी वेदना जिनके प्राणोंमें भरी रहती; नीलसुन्दरको देखकर जो विथकित रह जातीं, और आज व्याकुल गोप-गोपी-समाजके साथ जो यहाँ दौड़ी आयी थीं; तथा ठीक इनकी छायाकी भाँति ही श्रीकृष्णचन्द्रकी समवयस्का वे गोपकुमारिकाएँ भी—जिनके प्राण मानो सदा श्रीकृष्णचन्द्रमें ही समाये रहते थे तथा न जाने क्यों जिनकी आँखें नीलसुन्दरको देखते ही सजल हो उठतीं—आज इस कालियह्रदपर आ पहुँची थीं;—ये दोनों ही नवविवाहिता गोपसुन्दरियाँ एवं नीलसुन्दरकी समवयस्का गोपकुमारिकाएँ सहसा मूर्च्छासे जगकर करुण चीत्कार कर उठीं—

भोगेनावेष्टितस्यापि सर्पराजस्य पश्यत।
स्मितशोभि मुखं गोप्यः कृष्णस्यास्मद्विलोकने॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ७। ३२)

'अरी गोपकाओ! देखो तो सही, इस विशाल सर्पके शरीरसे वेष्टित रहनेपर भी नीलसुन्दरके मुखपर हम सबोंको देखकर स्मित आ ही गयी री! मन्द मुसकानसे परिशोभित इस मुखका दर्शन तो करो!'

इससे पूर्व ये नववधुएँ, ये कुमारिकाएँ एक शब्द

भी न बोल सकी थीं; ह्रदके तटपर आते ही नीलसुन्दरको कालियकुण्डलीसे आवृत देखते ही इनके लिये श्रीकृष्णविरहित त्रिलोक सचमुच ही शून्य बन चुका था—

ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २०)

—छिन्न हुई नन्ही-सी द्रुमलताकी भाँति वे गिर पड़ी थीं; करुण-क्रन्दनकी एक भी 'हाय' व्यक्त होनेसे पूर्व ही, हृत्कोश सर्वथा विदीर्ण न हो जाय, इस भयसे मूर्च्छा-सखीने सान्त्वना देनेके लिये उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया था—

स्खलिता भुवि मूर्च्छयैव सख्या कृतसान्त्वा इव नो तदा विलेपुः।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इनके इसी 'स्मितशोभि मुखं पश्यत' चीत्कारकी ध्वनिको व्रजरानीके मूर्च्छित प्राणोंने ग्रहण कर लिया और वे आँखें फाड़कर अपने नीलमणिकी ओर देखने लगीं।

'नहीं रे! निश्चेष्ट होनेपर भी मेरा नीलमणि जीवित है, अन्यथा अधरोंपर यह स्मित कहाँ····· ?'—मैया प्रबलवेगसे अपने वक्षःस्थलको पीटकर आर्तनाद करती हुई ह्रदकी ओर दौड़ी और अपना वामपद ह्रदके जलमें डाल ही दिया; किंतु—आह! बलरामने पीछेसे दौड़कर उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया, जननी आगे न बढ़ सकीं—

यह दसा देखि जसुधा मलीन।
करि रुदन हृदय ताड़न सु कीन॥
सब गोप रहे कैसे डराइ।
नहिं लेत धाइ लालन छुड़ाइ॥
इमि ब्याकुल ह्वै चलि धसीं नीर।
तहँ धाइ धरी बलबीर धीर॥

किंतु इसी समय व्रजरानीका यह करुण आह्वान संज्ञा-शून्य व्रजेन्द्रके प्राणोंमें संजीवन-मन्त्र-सा बनकर गूँज उठा, उनके नेत्र उन्मीलित हो उठे। फिर तो उन्होंने छलाँग-सी मारी ह्रदके जलकी ओर। पर तुरंत ही श्रीअनन्तदेव बलरामने मानो द्वितीय प्रकाश स्वीकार कर लिया और बाबा भी उनकी भुजाओंमें ही रुद्ध हो गये। अवश्य ही शेषस्वरूप रोहिणीनन्दनका अपरिसीम बल सचमुच यहाँ कुण्ठित-सा होने लगा, अत्यन्त कठिनतासे ही वे व्रजेशको पीछेकी ओर खींच सके—

फिरि नंद चले जमुना समाइ। बलिदेव रोकियौ करि उपाइ॥

गोपसुन्दरियाँ, गोपगण—कोई भी ह्रदमें प्रविष्ट न हो सका; सबके आगे बलराम खड़े हैं, किसीको संकेतसे, किसीके कंधे छूकर, किसीको भुजाओंमें भरकर वे दूर कर देते हैं। और यह लो, अब एक अद्भुत अलौकिक तेजोमण्डल उनके मुखको आवृत कर लेता है और मेघ-गम्भीर स्वरसे वे पुकार उठते हैं—

हंहो तात! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन स्वदेहः खेदयितव्यो दयितव्योऽयं कृष्णस्य।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! बाबा! अहो! प्रतिक्षण वेगसे बढ़ते हुए इस अतिशय चित्तसंतापी शोकसे अपने शरीरको व्यथित मत करो। तुम्हारी यह देह श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारकी वस्तु जो है, बाबा!'

भो मातर्मातः परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भोः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरी मैया! अब तू विलाप मत कर! मेरी बात सुन ले, धीरज रख री!'

भोः पौरजानपदाः! विपदाविष्करणेन मापरं परं संतापमामुमर्हत।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ओ पुरवासियो! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टासे नयी विपत्तिका सृजन कर किसी अन्य महान् दुःखके भागी मत बन जाओ।'

रोहिणीनन्दनकी वाणीमें उत्तरोत्तर ओज बढ़ता ही जा रहा है। अब वे कालियबन्धनमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर—अपनी भुजाओंसे संकेत करते हुए कहने लगते हैं—

अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्य्यस्य महिमानं हि माऽऽनन्दवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्तामसरपरिवृढा अपि यत्प्रभावबोधम्।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजपुरवासियो! मेरे इस कनिष्ठ भ्राताके शौर्यकी महिमाको आपलोग निश्चय ही नहीं जानते। जब किसीके अहंकारको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इसमें भी एक महान् अहंकार जाग्रत् हो उठता है और फिर अहंकारजनित जिस शौर्यकी इसमें अभिव्यक्ति होती है, उसकी उस आनन्दवर्द्धिनी महिमासे आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं। केवलमात्र मैं जानता हूँ। औरोंकी तो बात ही क्या, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं, जो मेरे इस भाईकी उस महिमाके लवमात्रका भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों?'

खल्वयमनेन पुंनागेन नागेनस्य पराभवः।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! निश्चय समझो, अभी-अभी इस पुरुषकुञ्जर मेरे भाई श्रीकृष्णके द्वारा नागप्रमुख कालियका पराभव, बस, होने ही जा रहा है!'

नागेनपराभवः पवनेन कर्त्तुं शक्यते।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! महान् बलशाली कालियके बलकी चिन्ता मत करो। इसका बल श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति व्यर्थ है। पवन अत्यन्त बलवान् होनेपर भी गिरिराजको पराजित करनेमें कदापि समर्थ नहीं है!'

न मयूखमालिमालिन्यं तमसा कर्त्तुं प्रभूयते।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो! किरणमाली सूर्यमें मलिनताका संचार कर देना तमके लिये सम्भव ही नहीं है। तम तो सूर्यके सांनिध्यसे ही विनष्ट हो जायगा। परम तेजस्वी श्रीकृष्णके समक्ष प्रतिपक्षी, तमरूप इस कालियका विनाश अवश्यम्भावी है।'

किमस्य मकरकुण्डलिनः कुण्डलिनः क्षुद्रतमाद्भयसम्भावनम्। तदधुना संतापमुपश्यत पश्यत भुजंगाधमसदममुममुक्तशौर्यं मुक्तप्राणमिव कृत्वा समुत्थितप्रायोऽयम्.....।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्णके लिये ऐसे क्षुद्र सर्पसे भयकी बात क्या सोचनी है! अतः अब तो दुःख दूर कर दो। अरे, देखो—इस अधम सर्प कालियको प्राणहीन-सा बनाकर मेरा यह अखण्ड-प्रतापवान् भाई श्रीकृष्णचन्द्र, बस, उठ ही चला है।'

इतना कह लेनेके अनन्तर श्रीबलरामके गम्भीर नेत्र—गौर मुखारविन्दके वे सलोने दृग् पुनः फिर गये श्रीयशोदा-नन्द आदिकी ओर ही। उनका वह श्वेतसुन्दर शरीर झुक-सा पड़ा व्रजदम्पतिके चरणोंमें। और अभी भी वाणी यद्यपि लोकोत्तर तेजोमय पुटसे वैसी ही रञ्जित रही, फिर भी नेत्र किंचित् अश्रुपूरित हो गये, इसमें संदेह नहीं; एवं गद्गद-कण्ठ-से हुए वे इतना और कह गये—

सत्यं वः पदपङ्कजाश्रयरुचां कुर्यामुष्य क्षति-
र्नैकस्मिन्नपि मूर्द्धजे क्षतिलवो भावी यथा गर्गगीः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेश! बाबा! व्रजरानी! मैया! अरी रोहिणी मैया! मैं तुम सबोंके समुज्ज्वल चरणोंकी शपथ कर रहा हूँ—श्रीकृष्णके एक केशतककी लवमात्र क्षति भी न होगी। और गर्गाचार्य भी तो यही कह गये हैं!'

अस्तु, रोहिणीनन्दनके उस आश्वासनका प्रभाव इतना अवश्य हुआ कि कृष्णगतप्राण व्रजेश, व्रजरानी, व्रजपुरवासी कालियह्रदमें प्रविष्ट न हुए; सबको रोक लिया बलरामने। किंतु यह भी वे कर सके अपनी भगवत्तामें अवस्थित होनेपर ही, ऐश्वर्यका बल लेकर ही। जो हो, व्रजरसकी यह विशुद्ध निराविल धारा सामने अनन्तदेवके लोकोत्तर-तेजसमन्वित मुखमण्डलसे निस्सृत आश्वासनको—ऐश्वर्य-पर्वतको लाँघ न सकी, एक बार रुद्ध हो गयी, यह सत्य है—

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम्।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २२)

नंद आदि जे गोप घनेरे।
असत नीर बलजू गहि फेरे॥
जानत प्रभु कौतुक भलि रीती।
सुंदर बधन कहे करि प्रीती॥

फिर भी उसका प्रवाह शिथिल हो गया हो, यह कहाँ सम्भव है! वह देखो—जननी यशोदाकी आँखें लगी हैं अपने नीलमणिकी ओर ही; उनकी अतिशय आकुल नेत्रभङ्गिमाको देखते हुए कौन कह सकता है कि मैया पुनः ह्रदमें कूद पड़नेका प्रयास न करेंगी। इसीलिये तो उन व्रजपुरन्ध्रियोंने उन्हें घेर रखा है, पकड़ रखा है। उन पुरसुन्दरियोंके प्राणोंमें भी जननीके समान ही व्यथाका भार अवश्य है, उनकी आँखें भी निरन्तर बरस रही हैं। पर मैयाके आकुल प्राणोंमें यत्किञ्चित् सान्त्वनाका संचार करनेके उद्देश्यसे वे पूतना-घटित घटनासे नीलमणिकी रक्षा होनेकी, तृणावर्त्तसे अक्षत बच जानेकी, वकके करल कण्ठसे सकुशल बाहर निकल आनेकी बातका वर्णन कर रही हैं, ऐसे विविध प्रसङ्गोंका विवरण सुनाकर मैयामें आशाका संचार कर रही हैं। स्वयं भी उनके नेत्र तो समाये हुए हैं नागबन्धनमें आवृत हुए नीलसुन्दरके मुखसरोजमें ही, पर वाणी अपने-आप अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे—उन घटनाओंका वर्णन करती जा रही है तथा मैया आशा-निराशाके झूलेमें झूल रही हैं। और सच तो यह है कि ये कहनेभरको ही जीवित हैं। क्षण-क्षणमें इनका शरीर मृतवत् निष्पन्द हो जाता है। इन्हें वास्तवमें अपनी देहका भान है, यह कहना बनता नहीं!—

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। २१)

कृष्न-मुखारबिंद दृग दीने।
रोवहिं बिह्वल बदन मलीने॥
बारिज-लोचन मोचहिं बारी।
संतत हिय जेहि बसत मुरारी॥
कहि कहि ललित गोपाल-गुन, ब्रज कीने जे ख्याल।
भूलीं तन सुधि मनहुँ सब मुईं सकल ब्रजबाल॥

वे गोपगण भी श्रीबलभद्रके द्वारा रोक अवश्य लिये गये, कालियह्रदके विषमय जलका स्पर्श कर जल मरनेसे उनकी रक्षा हो गयी; किंतु उनके अन्तस्तलकी ज्वाला ह्रदकी प्राणहारी ज्वालासे कहीं अधिक विषम है। उसकी कराल लपटोंमें उनका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसता जा रहा है। क्या गोप और क्या गोपी—सभीका जीवनदीप मानो अब कुछ ही क्षणोंमें निर्वापित होने जा रहा है—

नर नारि मोह-पीड़ा अधीन।
जल तें बिहाति ज्यौं बिकल मीन॥

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र? क्या वे नहीं देख पा रहे हैं अपने निज जनोंकी यह परम दयनीय दशा? नहीं सुन पा रहे हैं वे उनका वह अत्यन्त करुण क्रन्दन? नहीं-नहीं, वे करुणावरुणालय सब कुछ देख-सुन रहे हैं! यह तो व्रजजनके ह्रत्सिन्धुकी, उनके भावसागरकी मन्थनलीला है। त्रितापसे नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियोंके लिये महौषधिरूप बनकर इस सागरकी कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृतकी कुछ कणिकाएँ प्रपञ्चके तटपर बिखर जायँगी। अनन्तकालतक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्कमें आ सकेंगे, उनकी त्रिताप-ज्वाला सदाके लिये प्रशमित होगी। इसी अभिसंधिसे—साथ ही अपने स्वजनोंके रसपोषण, रससंवर्धनके उद्देश्यसे—व्रजेन्द्रनन्दन कालियबन्धनमें विश्राम-सा करने लगे थे। पर यह तो हो चुका। अब आगे क्षणभरका भी विलम्ब, उरगबन्धनका यह विश्राम व्रजपुरवासियोंके जीवनतन्तुको छिन्न किये बिना न रहेगा, यह भी परम करुणामय प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। या तो ये सब विषमय ह्रदमें अपने शरीर होमकर उनसे आ मिलें या विरहकी ज्वाला उनके कलेवरको भस्म कर दे और फिर निरावरण वे अपने

प्राणाधारको प्राप्त कर लें—जैसे हो, ये सभी उनसे मिलकर ही रहेंगे, उनका सांनिध्य पा लेनेके अतिरिक्त उनके लिये अन्य गति नहीं, यह 'सर्वज्ञ सर्ववित्' प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रसे छिपा नहीं है। साथ ही जिनका नित्य स्नेहार्द्र हृदय अपने स्वजनोंकी तनिक-सी आर्ति सहनेमें भी सर्वथा असमर्थ बन जाता है;—यह प्रश्न नहीं कि उस आर्तिका क्या लक्ष्य है; बस, अपने निजजनकी वह आर्ति है, यह भावना उन्हें परिव्याप्त कर लेती है और अनन्त करुणार्णव अन्य सब कुछ भूलकर सम्पूर्ण आर्ति हर लेनेके उद्देश्यसे दौड़ पड़ते हैं—वे सर्वसुहृद् परम स्नेही, भला, स्वयं उनके लिये ही, एकमात्र उन्हें ही सुप्रसन्न देख लेनेकी वासनासे अत्यन्त दुःखित, व्यथित हुए निजजनोंको कबतक इस अवस्थामें देख सकते। अनन्त-शक्तिसम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्रके भी धैर्यकी ऐसे अवसरोंपर सीमा आये बिना नहीं रहती। गायें वेदनाभारसे डकार रही हैं, वे उनके चिर सहचर शिशु सुबक-सुबककर रो रहे हैं; गोप करुण-क्रन्दन कर रहे हैं; मातृस्थानीया पुरन्ध्रियोंके प्राण उड़कर उनसे जा मिलनेके लिये अतिशय चञ्चल हो गये हैं; कुमारिकाएँ चिरनिद्रामें लीन होने चलीं; गोपसुन्दरियोंके दृगञ्चलपर अखण्ड समाधिकी शान्त रेखा अङ्कित-सी हो उठी—अब भी नीलसुन्दर कालिय-बन्धनमें निश्चेष्ट रहनेकी लीला कर सकेंगे? सदा सर्वसमर्थ रहनेपर भी व्रजेन्द्रकुल-चन्द्रमें इतना धैर्य है? नहीं-नहीं, कदापि नहीं! दो घड़ीका कालमान, नागबन्धनमें उनके वेष्टित रहनेकी वह अवधि—आगे त्रुटिमात्र भी बढ़नेका अर्थ है अपने स्वरूपभूत गोकुलका सम्पूर्ण ध्वंस—असमयमें ही तिरोधान! तथा सर्वेश्वरके द्वारा मनुष्यरीतिका अवलम्बन भी, 'दण्डनीय अपराधीके अपराध सबके लिये प्रत्यक्ष हो जायँ,—इस प्राकृत प्रथाका पालन भी तो इतनी देरमें सम्यक् रूपसे हो ही चुका, कालियकी क्रूरता सबपर व्यक्त हो गयी, रीति सम्पन्न हो चुकी। अतएव अब विलम्ब नहीं। वह लो, वहाँ देखो,—जय हो गोकुल-चन्द्रमाकी! जय हो नीलसुन्दरकी!—वे उस सर्पके बन्धनको फेंककर उठ खड़े हुए!—

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्त्तमानः
स्थित्वा मुहूर्त्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। २३)

प्रभु देखे ब्रज के नर-नारी।
बाल-बृद्ध सब भए दुखारी॥
मम हित इन कौं दुख अति भारी।
करुनाकर निज हृदय बिचारी॥
दंड एक नर-कौतुक कीना।
अहि-बंधन तैं कळ्यौ प्रबीना॥
× × ×
जगनाह सकल जग दुखिय देखि।
मन मोहि लगे इन के बिसेषि॥
झहराइ अंग डार्यौ फनिंद।
बल तोर जोर छूटे गुबिंद॥

कालियके लिये यह सम्भव ही नहीं था कि अब वह श्रीकृष्णचन्द्रको अपने कुण्डलीबन्धनमें रख सके। कैसे हुआ, यह तो उसकी जडबुद्धि समाधान न कर सकी। पर हुआ यह कि देखते-देखते ही श्रीकृष्णचन्द्रका वह नील कलेवर, आकृतिमें पूर्वकी भाँति ही परिदृष्ट होनेपर भी, व्यवहारमें महत्—महत्तर हो चला, अत्यधिक विस्तृत हो गया; ज्यों-के-त्यों दृढ़ बन्धनमें बँधे रहनेपर भी एक विचित्र-सी बृहत्ताका प्रकाश उसमें हो गया—ऐसी बृहत्ता कि कालियका शरीर फटने लगा, दृढ़बन्धन शिथिल होते देर न लगी, कुण्डलीका एक-एक आवरण अपने-आप खुलने लगा। क्षणार्धके सहस्र-सहस्रांश समयमें ही यह आश्चर्यमयी घटना संघटित हो गयी और कालियकी आँखोंने अविलम्ब स्पष्ट अनुभव कर लिया—अकेला वह तो क्या, उसके जैसे कोटि-कोटि कालिय अपने सुविस्तृत देहको परस्पर सम्मिलित करके भी इस अनोखे शिशुके चरणाङ्गुलितकको भी वेष्टित करनेमें असमर्थ ही रहेंगे। इस प्रकार निरुपाय कालिय उन्हें

छोड़ देनेके लिये बाध्य था, छोड़ ही दिया उसने। किंतु अनादि, भगवद्विमुखजन-मोहिनी मायाका आवरण इतना झीना नहीं कि जीव सहजमें ही चिदानन्दमय, अनन्तैश्वर्यमय प्रभुके प्रकाशके दर्शन कर ले। इसीलिये महामूढ़ कालिय परब्रह्म पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दनके असमोर्ध्व ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् अनुसंधान प्रत्यक्ष पा लेनेपर भी अंधा ही बना रहा, उसकी आँखें न खुलीं। अपितु वह क्रोधसे अधीर हो उठा। पुनः अपने फन उठा लिये उसने। वह अत्यन्त दीर्घ श्वास फेंकने लग गया। उसके नासाविवरसे राशि-राशि विषका प्रवाह बह चला। कराल आँखें प्रज्वलित विषमय भाण्डकी भाँति स्तब्ध बन गयीं। मुख जलते हुए अङ्गारोंका आकर बन गया। और इस प्रकार मानो तमकी सम्पूर्ण परिणति उसमें एक साथ एक समय अभिव्यक्त हो गयी हो—इतना भयंकर बनकर, एक दृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते हुए, स्थिरभावसे वह स्थित हो गया—अगले दावँकी प्रतीक्षामें!

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २४)

बढ्यौ कृष्न तन अति बल-जोरू।
तज्यौ सर्प बंधन अति घोरू॥
फन उठाइ प्रभु ओर निहारू।
रोष मानि रह खरौ गँवारू॥
नासा बिबर स्वास अति घोरा।
बिष भाजन जनु पाक कठोरा॥
नैन कराल अनल जनु बरई।
मुख उलमूक रासि जनु जरई॥
एहि बिधि ठाढौ अहि लसत काली काल कराल।
तरु तमाल साखा मनहुँ लसत फननि कौ जाल॥

× × ×

उमंडे घुमंडे घनै सीस छाए।
घटाटोप ह्वै कैं मनौ मेघ आए॥
लसै तेज, आरक्तता नैन बाढ़े।
मनौ अग्नि के कुंड तें ताइ काढ़े॥
तहाँ तर्कि कैं उग्रता वक्त्र बायौ।
किधौं भूरि भंडार भै को बतायौ॥
कढ़ी बज्र की कील-सी काल डाढ़ैं।
बसै मीचु तामें, हसैं नीच गाढ़ैं॥
चलै जोर जीहा महा दुःखदानी।
किधौं म्यान तें काल खैंची कृपानी।
भरे स्वाँस छाँडै खरे रोस राती।
किधौं सूर के पुत्र की कोह काती॥
छुटे ज्वाल बिसजालकी झार झूकैं।
चहूँ ओर दिग्दाह सौं बृच्छ सूकैं॥
रिसै आनि कैं घ्रान के रंध्र बाजैं।
किधौं काल तंत्रावलीं ताल साजैं॥
मदोन्मत्त ह्वै जुद्ध की रोपि पाली।
न जाने परब्रह्म ऐसौ कुचाली॥

जो हो, ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजपुरवासियोंके जीवनशून्य-से हुए शरीरमें तो प्राण संचारित होने लगे हैं, सबके हाहाकारका विराम हो गया है। नीलसुन्दरकी अग्रिम योजनासे वे यद्यपि परिचित नहीं, फिर भी रोहिणीनन्दनकी बात सत्य होनेमें अब किसीको संदेह नहीं रह गया है।

एक ओर श्यामवर्णा कलिन्दनन्दिनीकी कल-कल नीली धारा प्रसरित हो रही है, दूसरी ओर अत्यन्त काले रंगका वह महासर्प कालिय फुफकार मार रहा है; सामने नवजलधरवर्ण श्यामवर्ण श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं। भला, नीलसुन्दरकी भावी रंगशालाका क्या ही सुन्दर सुयोग लगा है!—

कारौ नीर कलिंदजा, कारौ अंग भुजंग।
कारे सुंदर स्याम घन, भलौ बन्यौ यह संग॥

श्रीकृष्णका कालियको अपने चारों ओर घुमाकर शान्त कर देना और फिर उसके फनोंपर कूदकर चढ़ जाना, ललित नृत्य करने लगना; देवताओंद्वारा सुमनवृष्टि तथा ऋषियोंद्वारा स्तवपाठ, गन्धर्वोंद्वारा गान एवं चारणोंद्वारा वाद्यसेवा; कालियका अन्त समयमें प्रभुको पहचान लेना और उनकी शरण वरण करना

हँस-हँसकर खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कालियके चारों ओर घूमने लगते हैं—इस प्रकार, मानो खगेन्द्र गरुड अपने भक्ष्य किसी क्षुद्र सर्पसे कौतुक करने लगे हों; तथा कालिय भी अवसरकी प्रतीक्षामें, पुनः अपने विषदन्तोंके द्वारा भीषण प्रहार करनेके उद्देश्यसे, नीलसुन्दरके समान ही चक्कर काट रहा है—

क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः।

(श्रीमद्भा० १०। १६। २५)

ताहि कृष्न घेरबौ चहुँ ओरा।
मनहुँ खगेस घेर अहि घोरा॥
जेहि दिसि प्रभु तेहि दिसि ह्वै सोऊ।
एहि बिधि भ्रमत फिरे तहँ दोऊ॥
× × ×
ऐसें काली सौं बनमाली।
खेलन लगे सकल गुन साली॥
बाम भाग दिए तिहि उर मेलत।
जैसैं गरुड़ सर्प सौं खेलत॥

किंतु कालियके बलकी तो एक सीमा है। अन्त अपरिसीम बलशालीसे होड़ करने जाकर वह कबतक टिक सकता था। देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी, घूम-घूमकर वह अत्यन्त श्रान्त हो गया। उसमें अब इतनी सामर्थ्य भी न रही कि अतिशय मन्द गतिसे भी नीलसुन्दरका अनुसरण कर सके। आखिर भ्रान्त-सा हुआ वह एक ओर खड़ा हो गया। दीर्घ निःश्वास आने लगे। आसन्नमृत्यु-जैसी उसकी दशा हो गयी। हाँ, उसके फन अब भी ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओटसे अभिमान स्पष्टरूपसे झाँक रहा था। पर अब तो योजना दूसरी ही है। मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक न हो सका, न सही; करुणावरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र उसे अपना चरणस्पर्श दान करनेके लिये चञ्चल हो उठे हैं, वे स्वयं उसे अतिशय विनम्र बनाकर ही छोड़ेंगे और यह लो, वे दौड़ चले, द्रुतिगतिसे उसके समीप आ गये। उनका वह वामहस्त-कमल ऊपर उठा, सबसे ऊपर उठे हुए कुछ फनोंपर एक अत्यन्त हलकी थपकी-सी उन्होंने लगा दी। फिर तो न जाने उस किसलय-कोमल करमें कितना भार कालियको प्रतीत हुआ और वे उन्नत फन उस भारसे नमित हो ही गये। इतना ही नहीं, उनका वह पीत दुकूल विद्युत् रेखा-सा झलमल कर उठा और पलक गिरते-न-गिरते नीलसुन्दर उन्हीं झुके हुए सुविस्तृत फनोंपर अनायास उछलकर चढ़ गये—ठीक ऐसे मानो उन्हें अपने शेषशायी स्वरूपकी स्मृति हो आयी हो और चिर अभ्यस्त होनेके कारण अपनी शय्यापर ही वे सुखपूर्वक आरोहण कर रहे हों!—

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः।

(श्रीमद्भा० १०। १६। २६)

बुझि गयौ ओज उरग कौ ऐसें।
नाग दवन के देखत जैसें॥
× × ×
फिरि झपटि चढ़े फन पकरि हाथ।
दै भार भरत गति अमित नाथ॥
× × ×

सोहैं नंद-सुवन तहँ ऐसें।
सेस उपर नाराइन जैसें॥

कालिय अपने इस अचिन्त्य सौभाग्यको अनुभव न कर सका, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्णचरण-सरोरुहका स्पर्श प्राप्तकर वह परम कृतार्थ हो चुका है, यह अनुभूति उसे नहीं हुई—यह सत्य है। पर अन्तरिक्ष तो 'जय-जय' नादसे तत्क्षण ही नादित हो उठा। ऐसे अत्यन्त अधम सर्पको भी अपनी कृपाका अयाचित दान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष देखकर देववृन्दके आनन्दका पार नहीं रहा है। उन सबके अपलक नेत्र केन्द्रित हो गये हैं—नीलसुन्दरके पदकमलोंपर ही। इस समय उन मृदुल चरणोंकी शोभा भी देखते ही बनती है। कालिय-मस्तकमें स्थित मणिसमूहोंके सम्पर्कमें आकर वे चरणाम्बुज अतिशय अरुणिम प्रतीत हो रहे हैं और अब देखो, नृत्यके तालबन्धका एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। ओह! स्पष्ट ही तो है—समस्त कलाओंके आदिगुरु ये व्रजेन्द्रनन्दन कालियफनोंपर नृत्य करने जो जा रहे हैं। एक प्राकृत नट भी अपनी कलाका प्रदर्शन करने जाकर, विविध आश्चर्यमय उपकरणोंके सहारे नाचकर अपने कौशलका परिचय देता है, मृत्तिकापात्रोंपर, आकाशमें टँगे रज्जु-खण्डपर, सूक्ष्म तारोंपर विविध तालबन्धोंकी रचना कर दर्शकको मुग्ध कर देता है। फिर अखिलकलाप्रवर्तक सकल-कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र कालिय-फनकी रङ्गशालामें ही अपनी कलाका दर्शन करायें, निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर ही देखते हुए अपने स्वजन व्रजपुरवासियोंके प्राणोंको शीतल करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है। अतिशय चञ्चल कालियफनपर अखण्ड सुमधुर तालबन्धकी रचना एक असाधारण अभूतपूर्व कौशल जो होगी। इसीलिये लीलाविहारी इसीकी अवतारणा करने जा रहे हैं—नहीं-नहीं कर चुके, उनका वह नृत्य आरम्भ हो गया—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त।

(श्रीमद्भा १०। १६। २६)

पुनि ताके फनपर चढ़ि गए।
सकल कला गुरु निर्तत भये॥
फनन तैं निकसि-निकसि मनि परैं।
पगन में झलमल-झलमल करैं॥
तैसिय हरि-नख-मनि की जोति।
सब दिसि जगमग-जगमग होति॥

अस्तु, नीलसुन्दरके बिम्बविडम्बी अधरोंपर नित्य व्यक्त स्मितकी वह रेखा सहसा और भी स्फुट हो गयी। सलोने चञ्चल दृग एक बार अन्तरिक्षकी ओर मुड़े और फिर दूसरे ही क्षण श्रीअङ्गोंसे एक विचित्र मनोहर नृत्यकी गतियोंका क्रमशः प्रकाश होने लगा। जिनकी चरणसेविका मायानटीके नियन्त्रणमें अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नाच रहे हैं, ब्रह्माण्डके प्रत्येक क्षुद्रतम धूलि-कणसे आरम्भ कर अतिशय महान् सुमेरुपर्यन्त जडवर्ग एवं कीटाणुसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त चेतन-समुदाय अनवरत नृत्य कर रहा है, वे मायाधिपति व्रजेन्द्रनन्दन आज स्वयं कालिय-फनपर नृत्य करने चले हैं! और इस समय इन नटवर-नागरको इतनी त्वरा है कि वीणा-झंकृतिकी, मृदङ्ग आदिके तालकी सहायता प्राप्त हुए बिना ही मञ्चपर उतर आये और नृत्य आरम्भ कर दिया है उन्होंने! वाद्ययन्त्र नहीं है, न सही। उनके मधुमय कण्ठसे निस्सृत 'थै-थै' का अप्रतिम अभिनव झंकार ही पर्याप्त है। बस, दिग्दिगन्त गूँजने लगा है उनके श्रीमुखसे प्रसरित 'थैया तथ-तथ, थैया थै-थै, थैया तथ.....' के मधुर रवसे और वे स्वयं अपने मुखसे दिये हुए तालपर ही आनन्दित हुए नृत्य कर रहे हैं। अवश्य ही अन्तरिक्षमें अवस्थित उनके 'तदीय' जन—गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण, सुरसुन्दरियोंकी आँखें खुलते देर न लगीं। सबके प्राणोंमें नादित हो उठा नीलसुन्दरके मधुस्यन्दी कण्ठका 'थै-थै' नाद और साथ ही जाग उठी अग्रिम कर्तव्यकी स्फूर्ति—

वाद्यं विनैव स्वमुखेनैवोच्चारितैस्तथैथैशब्दैः प्रभुर्नृत्यति तद्वयं कं समयं प्रतिस्थिता इति।

(सारार्थदर्शिनी)

'ओह! बिना वाद्यके ही अपने मुखसे उच्चारित 'थै-थै' शब्दके तालपर ही प्रभु नृत्य कर रहे हैं; फिर हमलोग किस समयकी बाट देख रहे हैं।'

अब तो कहना ही क्या है। प्रेममग्न उन गन्धर्वोंने नीलसुन्दरकी ताल एवं लयमें अपनी ताल-लय मिलाकर उनकी गुणावलीकी मधुर तान छेड़ दी। स्नेहपूरित हुए स्वर्ग-चारणगण मृदङ्ग, पणव, आनक आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ताल श्रीकृष्णचन्द्रके चरणविन्याससे एककर ताल देने लगे। मधुर गीत गाते हुए देवगण एवं देववधुओंने नन्दनकाननसे मन्दार, पारिजात आदि पुष्पोंका चयन किया; क्षणभरमें सबने ही राशि-राशि कुसुमोंसे अपने दुकूल, अञ्चल-अञ्जलि भर लिये और श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें कुसुमोंकी अविरल धारा बरसने लगी। सचमुच ही सुरगण एवं सुरसुन्दरियोंके द्वारा प्रक्षिप्त, स्नेहसिक्त प्रसूनोंसे कलिन्दकन्याका प्रवाह, ह्रदका कूल सम्पूर्णतया आस्तृत होने लगा। व्रजेन्द्रनन्दनका माहात्म्य कीर्तन करते हुए सिद्धगणोंने हरिचन्दन, कुङ्कुम आदि दिव्य सौरभमय विविध चूर्णोंके उपहार बिखेर दिये; समस्त दिशाएँ आमोदित हो उठीं और उधर ऋषिगणोंका स्तवपाठ भी आरम्भ हो गया। सभी अपना सर्वस्व समर्पितकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवामें तत्क्षण उपस्थित हो गये—

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २७)

थैया तथतथ थैया थै थै थैया तथेति गन्धर्वाः ।
तालं पाठं वादनमारेभिर उच्चकैर्मुदिताः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

प्रभु कहँ नचत देखि सुर-चारन।
आए बनि-बनि सेवा कारन॥
देवबधू गावहिं पिकबैनी।
अप्सर संग मिली मृगनैनी॥
पनव मृदंग आदि बहु बाजे।
भिन्न भिन्न नाना बिधि राजे॥
करि अस्तुति, सुरसिद्ध गन, सुमन बरषि हरखाइ॥
नचत सु कालीके फननि, कृष्ण देखि सुख पाइ॥

× × ×

सिर डुलति चंद्रिका सरिस माल।
कुंडलनि गंड मंडत रसाल॥
जुरि गंधप आए समय जान।
सुरबधू अपछरा करहिं गान॥
सुर भरहिं तार दै-दै उचार।
बीनादि जंत्र बाजँ अपार॥

श्रीकृष्णचन्द्र और भी उत्साहमें भरकर नृत्य करने लगते हैं। गन्धर्वोंका स्तवन जिस क्रमसे चल रहा है, उनकी गद्य-पद्यमयी स्तुति जिस प्रवाहमें व्यक्त हो रही है उसीके अनुरूप ही ताल-संकेतकी व्यञ्जना भी हो रही है तथा अखिल-कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र भी उसी ताल एवं वृत्तमें बँधे हुए ही नृत्य कर रहे हैं। कहीं भी स्खलन नहीं, स्वरका व्यतिक्रम नहीं। साथ ही कालियके एक फनसे दूसरे फनपर वे चले गये हैं, यह तो दीख पड़ता है और वे गये हैं ठीक तालके विरामके समय ही; परंतु स्थान-परिवर्तन करते समय सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि किसीने भी उन्हें सचमुच देखा हो, यह कहते बनता नहीं। बलिहारी है नीलसुन्दरकी इस कलाकी!—

उद्घाटयन्ति शब्दं तालं पाठं च ते यथा बिरुदम्।
अयमपि तथैव नृत्यति फणिनः फणतः फणान्तरं गच्छन्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और कुछ ही क्षणोंके अनन्तर गन्धर्व-चारणोंकी कला कुण्ठित होने लगी। नृत्य एक शास्त्र है, उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यासका कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक-दूसरेसे अधिक प्रदर्शित कर सकता है। दर्शकके हत्तारोंको झंकृत कर देनेकी सामर्थ्य सभी नर्त्तकोंमें समान हो ही नहीं सकती; किंतु प्रत्येक नर्तक ही नृत्य-परम्पराकी सीमामें ही रहता है, कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्यविशेषमें जो

उसकी स्वतन्त्रता रहती है, एक नवीनताका भान जो वह अपने दर्शकोंको करा देता है, वह भी नृत्य-कलाकी एक नियमगत वस्तु ही है; किंतु यहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दन देखते-देखते ही सर्वथा स्वकल्पित गतिसे ही नृत्य करने लगते हैं। परम स्वतन्त्र व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा नृत्यकी यह गति-रचना है तो अत्यधिक मनोहर, अत्यन्त मोहक; पर चारण-गन्धर्वोंने कहाँ शिक्षा पायी है, ऐसी अद्भुत कलाकी! कब देखा है उन सबने ऐसा प्राणोन्मादी उद्दाम नृत्य? इसीलिये अब सम्भव ही नहीं रहा कि वे श्रीकृष्णचन्द्रके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उनके गीतमें योगदान कर सकें, वाद्ययन्त्रोंको उनके तालमें बाँधे रखकर चल सकें; यहाँतक कि वे ताल-पाठका संकेत भी उच्चारण कर सकें, यह क्षमता भी उनमें न रही—

निजकल्पितया गत्या नृत्यति कृष्णो यथा स्वैरी।
न तदनुरूपं गातुं पठितुमप्यमी शेकुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

कौन बताये उन चारण-गन्धर्वोंको—'अरे! कालियके अन्तस्तलके स्पन्दनपर ही तो व्रजेन्द्रनन्दनकी गति निर्भर करती है।' उसकी स्तब्धताको आत्यन्तिक रूपसे हर लेनेके लिये ही तो नीलसुन्दरने उसके फनोंपर अपनी रङ्गशालाका निर्माण किया है। पर कालियकी बहिर्मुखता भी अपनी जातिकी एक ही है। वह न जाने रोषप्रतिशोधकी किन-किन लहरोंमें बह रहा है। भक्तवाञ्छाकल्पतरु व्रजेन्द्रनन्दनको अपने मस्तकपर अवस्थित अनुभव करके वह आनन्दसिन्धुमें सदाके लिये निमग्न न हो सका; अपितु वह तो यह सोच रहा है कि कहीं, तनिक-सा भी अवसर मिल जाय और वह इस 'शिशु' को तपनतनयाके प्रवाहमें फेंक दे। इसीलिये रह-रहकर उसके फन उठते हैं; जिस फनमें तनिक भी शक्तिका अनुभव उसे होता है, उसे ही वह ऊपर उठाता है तथा उस साँवरे शिशुको दबोच लेनेका स्वप्न देखता है। सहस्र फन उसके हैं। उनमें एक शत मुख्य हैं तथा उन सौमें ही निरन्तर अत्यन्त उग्र विषका कुण्ड धक्-धक् जलता रहता है और इन्हींमेंसे किसी फनको उठाकर उसका समस्त विष व्रजेन्द्रनन्दनपर उँडेलकर वह उन्हें भस्म कर देना चाहता है; किंतु होता यह है कि जो भी फन नमित नहीं दीखते, ठीक उन्हींपर श्रीकृष्णचन्द्रका पाद-प्रहार होने लगता है। नृत्यके आवेशमें, एक नयी गतिका सृजन करके अपनी अतिशय मनोरम भङ्गिमाको अक्षुण्ण रखते हुए ही, वे उसी फनको बारंबार तालका विरामस्थल बना लेते हैं; वही मस्तक उनकी रङ्गस्थलीमें परिणत हो जाता है और फिर उनके चरण-प्रहारसे टूटकर वह नीचेकी ओर झुक पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो श्रीकृष्णचन्द्र ताण्डवका रस ले रहे हैं, पर साथ ही आनुषङ्गिकरूपसे खल-संयमनकी लीला भी सम्पन्न होती जा रही है। हाँ, कालियके लिये तो अब उसके जीवनदीप बुझते-से दीख रहे हैं। कितनी देरतक वह सह सकता था उनकी ताड़नाको। बार-बारके पदाघातसे उसका एक-एक फन टूट-टूटकर नीचेकी ओर लटकने लगा है। मुखसे, नासाछिद्रसे अनर्गल रक्तकी धारा बहने लगी है। अत्यधिक व्यथाके भारसे वह मूर्च्छित होने लगा है—

यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २८)

प्रभु तजत डरग के नमित सीस।
जे उन्नत, तिन पर नचत ईस॥
निरतत नंद-किसोर जोर पगतल हनि फन-फन।
गावत अंबर चढ़े अमर-किंनर-गंधप-गन॥
फिरि भर तालनि अनक फनिक फिरि फेनहि डारतु।
बमतु रुधिर मुख धार, भार, नहिं अंग सम्हारतु॥

× × ×

जोइ-जोइ फन अहि उन्नत कौ।
तहँ तहँ पाँव कान्ह कौ पौ॥
पगन कि कूटनि दुखित जु भयौ।
सर्प कौ दर्प सबै गिरि गयौ॥

आकाशसे अभी भी प्रसूनोंकी वृष्टि हो ही रही है। देवद्रोही इस कालियके गर्वको प्रभुने हर लिया—यह दर्शन देव-समाजके कण-कणको आनन्दित कर दे रहा है। उन्हें तृप्ति नहीं हो रही है नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें कुसुमोंका अभिनन्दन समर्पित करनेसे। और क्या पता—शेषशायी पुराणपुरुषके पादारविन्दमें पाद्य, अर्घ्य, सुमन समर्पित करनेका अवसर तो उन्हें कितनी बार मिल चुका है; पर वहाँ इन नृत्यपरायण नीलसुन्दरकी बङ्किम झाँकी कहाँ? और इसी उल्लासमें ही उनके पुष्पवर्षण—पुराण-पुरुषके पूजनका विराम नहीं हो रहा है!—

.....पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। २९)

तेहि-तेहि समै देव-गंधर्बा।
किंनर, चारन, मुनिगन सर्बा॥
जसुदानंदन कहँ सब आई।
पूजहिं सुमन सुरभि सुख पाई॥
सेषासन जनु पुरुष पुराना।
पूजेउ एहि बिधि करि सनमाना॥

जो हो, अब कालियका गर्व शमित हो चुका था। उसकी शारीरिक शक्ति तो पूर्णतया क्षीण हो ही चुकी थी; निराश मन भी चिर-निद्रामें प्रविष्ट होने चला। किंतु ठीक यही अपेक्षित क्षण जो है, अवसर है श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रिकाके आलोकसे अन्तस्तल उद्भासित हो उठनेका। और यही हुआ। कालियके मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राणोंमें एक ज्योति-सी जाग उठी और उसने उसी प्रकाशमें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके स्वरूपको पहचान लिया। 'पर हाय! शरीरमें तो अब शक्ति नहीं कि वह स्पन्दित भी हो सके, श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-सरोजोंमें न्योछावर हो सके! अब क्या हो! बहुत विलम्ब हो गया····!' फिर भी अन्तिम श्वासकी-सी अवस्थामें कालिय मन-ही-मन पुकार उठा—

सरन-सरन अब मरत हौं, मैं नहिं जान्यौ तोहि॥

× × ×

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३०)

साथ ही उस ओर नाग-वनिताओंपर योगमायाके द्वारा प्रसारित वह आवरण भी सहसा हट गया। युग-युगसे जिन व्रजेन्द्रनन्दनको वे अपना मन-प्राण समर्पित कर चुकी थीं, प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये जिनकी प्रतीक्षा कर रही थीं, वे ही जब उनके आवासमें स्वयं पधारे, तब उन सबने—दर्शनसे कृतार्थ होकर भी—उन्हें नहीं पहचाना। हाँ, इस समय अकस्मात् अपने-आप—न जाने कैसे हृत्तल आलोकित हो उठा और उन सबने देख लिया, जान लिया—'हमारे चिरजीवनके आराध्य प्राणाधार ही तो वहाँ विराजित हो रहे हैं।' किंतु पतिदेव—आह! वे तो महाप्रयाणकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। नागवधुएँ तत्क्षण उपस्थित हो जाती हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-प्रान्तमें ही—

गति सबल अबल स्वाँसानि बल, हहरि सुहिय लहरातु घट।
लखि बिकल ब्याल काली सिथिल, तब आईं अबला निकट॥

नागपत्नियोंका भी अपने शिशुओंको लेकर श्रीकृष्णकी शरणमें उपस्थित होना, स्तुति एवं प्रणाम करना और पतिके जीवनकी भिक्षा माँगना; श्रीकृष्णका करुणापूर्वक कालियके फनोंसे नीचे उतर आना

नेत्रोंसे अविरल प्रवाह बह रहा है, अङ्गोंके वस्त्र-भूषण स्खलित हो चुके हैं, वेणी खुल गयी है, आकुलतावश देहकी सुधि छूटती-सी जा रही है, चित्त उत्तरोत्तर विह्वल होता जा रहा है—इस दयनीय दशामें नागवधुएँ अपने छोटे शिशुओंको सामने रखकर, अञ्जलि बाँधकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके समीप दण्डवत् गिर पड़ीं। उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगीं। वे जानती हैं—समस्त भूतप्राणियोंके पति, प्राणिमात्रके रक्षक ये व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं; एकमात्र आश्रयदाता ये नन्दकुलचन्द्र ही हैं। यद्यपि कालियने अपराध इन श्रीचरणोंमें ही किया है, अत्यन्त पापात्मा है यह, फिर भी इन व्रजराजनन्दनके अतिरिक्त अन्य कोई त्राता भी जो नहीं; हम सबोंको अपने पतिके लिये प्राणदानकी भिक्षा भी केवल इन्हींसे प्राप्त हो सकती है। परम करुणामय हमें निराश नहीं करेंगे, हमारी यह कामना अवश्य पूर्ण करेंगे। अतएव एक क्षण भी न खोकर वे श्रीकृष्णचन्द्रकी ही शरण ले लेती हैं—

.....

आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥
तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्त्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ३१-३२)

चौ०—छुटे लरिकन आगे किएँ।
जैसें दया फुरै हरि हिएँ॥
नैनन तैं जलकन यों परैं।
कमलन तैं जनु मुक्ता झरैं॥
बिगलित कच सु बदन छबि बढ़े।
अहि-सिसु जनु कि ससिन पर चढ़े॥

× × ×

मन-चित अति उदबेग, न थोरा।
हरि कहँ देखि उभय कर जोरा॥
आगे धरि निज बाल अनेका।
करहिं दंडवत छिति सिर टेका॥
प्रभु सरन्य बरदेस अनंता।
सरन गही तिन श्रीभगवंता॥

कालियके द्वारा किये हुए अगणित अपराधोंकी स्मृति तो उनमें किञ्चित् भयका संचार कर रही है; पर साथ ही नीलसुन्दरका वह प्रसन्न वदनारविन्द प्राणोंके कण-कणमें उल्लास भर दे रहा है। इसी अवस्थामें किसी अचिन्त्य प्रेरणासे अभिभूत होकर वे सब-की-सब श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगती हैं—

चौ०—कछु मुद भरी, कछु भय भरी। करि दंडवत स्तुती अनुसरी॥

उनके गद्गद कण्ठका वह अतिशय मधुर स्वर सर्वत्र गूँज उठता है। ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजवासी भी प्रत्यक्ष सब कुछ देख रहे हैं, सुन पा रहे हैं—

ठाढ़े देखत हैं ब्रजबासी।
कर जोरें अहि-नारि बिनय करि, कहतिं धन्य अबिनासी॥

नागपत्नी सुबलाने तो श्रीकृष्णचन्द्रके पदसरोजोंको अपने अञ्जलिपुटमें धारण कर लिया है। अन्य पत्नियाँ अत्यन्त समीपमें हाथ जोड़े खड़ी हैं। तथा उन सबके ही अन्तस्तलके भाव क्रमशः एक-एकके मुखसे बाहर आकर नीलसुन्दरके चारु चरणोंमें समर्पित होने लगते हैं। वे अविराम कहती जा रही हैं—'नाथ! प्रभो! जगत्में तुम्हारा आविर्भाव ही होता है दुष्टोंका दमन करनेके लिये। अतएव मेरे स्वामिन्! सर्वथा उचित है कालियके प्रति तुम्हारा यह दण्डविधान,

महान् अपराधी हमारे पतिके लिये यह शासन! अपनेसे निरन्तर शत्रुता रखनेवालेके प्रति तथा दूसरी ओर अपनी संततिके प्रति तुम्हारी नित्य समदृष्टि रहती है, भगवन्! दोनोंके सम्बन्धमें कदापि तुममें भेदभावका उन्मेष नहीं होता। अपराधीको परम कृतार्थ करनेके लिये ही, उसे अपने पादपद्मोंकी शीतल शंतम छायाका दान कर अनन्त अपरिसीम सुखमें सदाके लिये निमग्न करनेके लिये ही तुम्हारा दण्डविधान होता है।

'अहा! करुणावरुणालय! कितना महान् अनुग्रह हुआ है तुम्हारा हम सबोंके प्रति, इस कालियके प्रति! इस दण्डके रूपमें तुम्हारी परम कृपा ही तो व्यक्त हो रही है; क्योंकि यह निश्चित है—तुम्हारे द्वारा विहित दण्ड समस्त पापोंका क्षय कर देता है। देखो सही, स्पष्ट है कि पापोंके परिणामस्वरूप ही तो कालियको सर्पयोनिकी प्राप्ति हुई है; किंतु यह लो प्रभो! तुम्हारे क्रोधमें कालियके वे पाप—नहीं-नहीं, उसकी सम्पूर्ण पापराशि ध्वंस हो गयी! यह केवल देखनेभरको अब सर्प रहा है, वास्तवमें तो यह जीवन्मुक्त हो चुका है। इतना ही नहीं, भक्तिकी अजस्र धारा संचरित हो चुकी है इसके अन्तस्तलमें और यह परम कृतार्थ हो चुका है। इसीलिये, दयामय! तुम्हारा दण्ड, दण्डका हेतुभूत क्रोध सर्वथा तुम्हारे अनुग्रहकी ही परिणति है। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं।

'अवश्य ही अतीतके किसी जन्ममें हमारी बुद्धिसे अगोचर किसी तपका आचरण इसने किया है, स्वयं अभिमानशून्य रहकर एवं दूसरोंको सम्मान-दान करते हुए उस तपमें अचल भावसे यह परिनिष्ठित रहा है। अथवा समस्त भूतप्राणियोंके प्रति दयापरायण रहकर किसी धर्मविशेषका इसने अनुष्ठान किया है; जिसके फलस्वरूप तुम सर्वान्तर्यामी इसपर प्रसन्न हो उठे हो, निग्रहके रूपमें इसे अपने अनुग्रहका परम दान देने आये हो, देव!

'किंतु नहीं, हम सब भूल रही हैं, भगवन्! तपसे, धर्मानुष्ठानसे ऐसे अप्रतिम सौभाग्यकी उपलब्धि कहाँ सम्भव है। यह तो निश्चय ही तुम्हारे अचिन्त्य कृपावैभवका ही चमत्कार है। तुम्हीं सोचो, सर्वेश्वर! तप आदिके द्वारा ब्रह्मा आदि भी जिन लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेनेकी अभिलाषा करते हैं, उन स्वयं श्रीदेवीतकने भी तुम्हारी चरणरजको स्पर्श कर लेनेका अधिकार चाहा है और फिर इस अदम्य लालसासे प्रेरित होकर वे तुम्हारे अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओंका परित्याग कर, विविध नियमोंका पालन करती हुई दुश्चर तपमें बहुत समयतक संलग्न रही हैं। ऐसी—इतनी दुर्लभ वस्तु तुम्हारे श्रीचरणोंकी रज है! पर यहाँ तो—बलिहारी है तुम्हारे इस अयाचित कृपादानकी!—इन चरणसरोरुहके धूलिकणोंको स्पर्श कर लेनेका अधिकार अधम कालियको मिल रहा है! अब कौन बताये, कौन जानता है—कालियकी किस साधनाका यह फल है। हम सब तो समझ नहीं पातीं, भगवन्!

'अहा! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागरसमन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती। इसकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर-कालपर्यन्त भोगनेयोग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती। इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्न-बाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जागती। ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धिकी ओर भी उनका मन नहीं जाता। इससे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्युविहीन मोक्षपदतककी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम, प्रभो!

'अहो! क्या ही आश्चर्य है! उसी चरणरजको इस सर्पराज कालियने बिना किसी प्रयासके ही पा लिया। तमोमय योनिमें उत्पन्न एवं अत्यन्त क्रोधी स्वभावका होनेपर भी इसे उसका स्पर्श प्राप्त हो गया—उस चरणरजका स्पर्श कि जो श्रीदेवी आदितकके लिये परम दुर्लभ है तथा जिसे प्राप्त कर लेनेकी इच्छामात्रसे ही संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए जीवको सर्वविध सम्पदा—अपवर्गतककी प्राप्ति अनायास ही

हो जाती है। सचमुच कालिय-जैसे महापराधीके जीवनमें यह अनिर्वचनीय सौभाग्योदय केवल तुम्हारी कृपासे ही सम्भव हुआ है, स्वामिन्!

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्॥
अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः।
यद् दंदशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥
तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः॥

(श्रीमद्भा १०। १६। ३३—३८)

चौ०—अहो नाथ! यह दंडन जोगू।
न्याय दंड, यह भयौ निरोगू॥
तव अपराध कीन एइ भारी।
जोग्य दंड एहि दियौ मुरारी॥
सुत अरु रिपु एक सरिस तुम्हारे।
तदपि खल तुम अमित संघारे॥
खल निग्रह हित यह अवतारू।
हरि महि-भार उतरनहारू॥

छं०—एहि दंड जु दीना अति भल कीना परम अनुग्रह मैं माना।
तव पगतल धूरी भव रुज मूरी लहैं न सूरी श्रुति गाना॥
इन निज सिर धारा पुण्य अपारा, कै ब्रत, दान करेउ ध्याना।
यह सर्प कुजाती अघ भव पाती, सो जरि गौ अब मैं जाना॥
यह नाम जु काली परम कुचाली, परि पूरब तप कृत रासी।
कै तजि मद-माना जप कछु ठाना, कै तीरथ कौ है बासी॥
कै धौं यह दानी जन-सनमानी, कै जानी इन अबिनासी।
याकी सुभ करनी जात न बरनी, पाय धरे सिर भव-नासी॥
हे देव! मुकुंदा! आनँदकंदा! अहि मतिमंदा, क्रूर महा।
एहि सुकृत पुराना हम नहिं जाना, तव पद-पंकज सीस लहा॥
निति करि तप भारी अज असुरारी चाहत जासु प्रसाद सदा।
सो रमा सदा ही हिय उमगाही, तव पद-पंकज-आस मुदा॥

दो०—रमा आदि जेहि परस हित, करहिं सदा ब्रत-नेम।
अहो सर्प सठ भाग की, परस्यो पद बिनु प्रेम॥

सो०—ऐसी मोहि लखाइ, नहिं तपादि कारन कछू।
तव कृपालुता गाइ, कहत बेद कछु मिति नहीं॥

चौ०—जे तव पद-रज सरन गहाहीं।
ते कछु अपर न सुख ललचाहीं॥
नाक-लोक सुर-ईस-निकेता।
एक चक्र भू, धन-सुख जेता॥
नागलोक-सुख अमित प्रकारा।
जोगसिद्धि-फल कहे अपारा॥
मुक्ति चाह नहिं तिन कहुँ अबहूँ।
तव पद-पंकज में सुख सबहूँ॥
अखिल लोक तेहि तुच्छ समाना।
जिन किय कंज-रसासव-पाना॥
अहि मलीन पति नाथ! हमारा।
बिष अति घोर, मूढ, तम भारा॥
सो रज बिनु प्रयास इन पावा।
तासु भाग्य कौं को कबि गावा॥
जो रज हित करि जतन अनेका।
करत जोग गहि नेम-बिबेका॥

सो इन बिना जतन सिर धरेऊ।
भव-रुज रोग सकल परिहरेऊ॥

नागवधुओंका अन्तस्तल सदाके लिये आलोकित हो चुका है। ज्ञान-विज्ञानकी रश्मियोंमें वे व्रजेन्द्रनन्दनकी अपरिसीम भगवत्ताका दर्शन कर रही हैं। जहाँ, जिस ओर, जिसकी चित्तवृत्ति डूब रही है, उसीका आभास उसकी वाणी ग्रहण कर लेती है, उसीका उल्लेख स्तवनमें होने लगता है और आगे चलकर तो विह्वलतावश, प्रेमवश उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि वे क्या कह रही हैं, कहीं व्यक्त हुई भावनाकी ही पुनरावृत्ति तो नहीं कर रही हैं। वे तो, बस, कहती ही चली जा रही हैं और नीलसुन्दरके पादपद्मोंमें बार-बार नमस्कार समर्पण कर रही हैं—

'भगवन्! तुम अनन्त ऐश्वर्य-निकेतन हो, सर्वान्तर्यामी हो, अपरिच्छिन्न हो, सर्वभूताश्रय हो, सबके आदि हो, सर्वकारणकारण हो, कारणातीत हो। तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम है!

'तुम ज्ञान-विज्ञान-निधि हो, सजातीय-विजातीय-भेदरहित हो, अनन्तशक्तिशाली हो, प्राकृत-गुणरहित हो, अविकारी हो, अप्राकृत-गुणगण-समलंकृत हो! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम कालस्वरूप हो, कालशक्तिके आश्रय हो, कालके अवयव निमेष आदिके साक्षी हो, विश्वरूप हो, विश्वान्तर्यामी हो, विश्वकर्ता एवं विश्वकारण हो, तुम्हें हमारा वन्दन है!

'विभो! पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, दशेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन सबके रूपमें तुम्हीं विराजित हो। त्रिगुणसे होनेवाले देहादिमें अभिमानके द्वारा तुमने आत्मतत्त्वज्ञानको आवृत कर रखा है! तुम्हारे श्रीचरणोंमें नमन है।

'तुम अनन्त हो, अज्ञेय हो, उपाधिकृत-विकाररहित हो, सर्वज्ञ हो, विभिन्न मतवादियोंकी भावनाके अनुरूप ही रूप धारण करते हो। तुम्हीं शब्दोंके अर्थके रूपमें हो एवं शब्द भी तुम्हीं हो; इन दोनोंको संधित करनेवाली शक्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार है!

'तुम समस्त प्रमाणोंके मूलस्वरूप हो, स्वतःसिद्ध-ज्ञानवान् हो, शास्त्रोंके उद्भवस्थान हो, तुम्हीं प्रवृत्तिशास्त्र हो, तुम्हीं निवृत्तिशास्त्र हो, इन दोनोंके मूलस्वरूप निगम—वेद भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार, नमस्कार है, प्रभो!

'तुम्हीं वासुदेव हो, तुम्हीं संकर्षण हो, तुम्हीं प्रद्युम्न हो, तुम्हीं अनिरुद्ध हो—इस प्रकार चतुर्व्यूहरूप एवं भक्तोंके स्वामी, यादवपति श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम अन्तःकरणके, अन्तःकरणकी वृत्तियोंके प्रकाशक हो; उन्हींसे अपने-आपको आवृत भी रखते हो। उन्हींके द्वारा तुम्हारा संकेत भी प्राप्त होता है। तुम उनके साक्षी हो, स्वयंप्रकाश हो। तुम्हें प्रणाम है!

'अतर्क्य महिमा है तुम्हारी, नाथ! समस्त स्थूल-सूक्ष्म जगत्की सिद्धि तुमसे ही है, प्रभो! तुम आत्माराम हो, आत्मारामस्वभाव हो। हृषीकेश! तुम्हें हमारा वन्दन स्वीकार हो!

'तुम स्थूल-सूक्ष्म गतियोंके ज्ञाता हो, सर्वाधिष्ठाता हो; विश्वसे अभिन्न हो, पर साथ ही विश्वातीत हो, विश्वद्रष्टा हो, विश्वहेतु हो। तुम्हें नमस्कार है, स्वामिन्!

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्टेऽस्य च हेतवे॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ३९—४८)

छं०—तव पद नमामि अनंत।
भगवंत कमलाकंत॥
तुम पुरुष परम सुजान।
जेहि महत करि श्रुति गान॥
अग जग सकल तव बास।
सब के परे सुख-रास॥
चर-अचर कहँ तुम हेतु।
निज संत कहँ सुख देतु॥
तुव आदि-अंत न जान।
जेउ निपुन जग महँ ग्यान॥
हम नारि सब बिधि हीन।
तव चरन अब दृग दीन॥
तुम ग्यानरूप जु ईस।
हम नमहिं पद धरि सीस॥

छं०—तुम ग्यान-घन बिग्यान-रूप सरूप ब्रह्म नमामि हे।
तुम अगुन-सगुन-सरूप, सुंदर सकल सक्ति निधान हे॥
प्रभु कालरूप, सरूप अद्भुत, भुवन-संभव-पाल हे।
तुम कालहू के परम साच्छी, बिस्वरूप नमामि हे॥
तव पाद नुति करि बार-बार उदार ब्रह्मा जगत के।
तव पद नमामि, बदामि किमि, गुन अखिल-सुखप्रद भगत के॥
छिति आदि पंच प्रपंच रचना सकल तव बपु, नाथ हे।
दस प्रान, इंद्री, बुद्धि, मन, चित—सकल तुम अजनाथ हे॥

चौ०—नमो त्रिगुण सत्वादि स्वरूपं।
नमो अहंकृत ईश अनूपं॥
नमो महत प्रकृतिन के ईसा।
नमो सकल-कर्ता जगदीसा॥
जय कूटस्थ, अनंत, एकरस।
जय सूच्छम सर्बग्य बिस्वबस॥

छं०—षटसास्त्र बिचारि-बिचारि रहे।
तव भूति न तद्यपि कोउ लहै॥
नत याचक-याच्य सरूप करं।
जग-बंदित रूप परेस धरं॥
दृग आदि सरूप नमामि बिभो।
तिन तें निरपेछिक रूप प्रभो॥
तन स्वास सबै निगमादि हरे।
तिन में द्वै भेद प्रसिद्ध करे॥
जय कृष्न किसोर नमामि पदं।
भव खंडन राम महा बिपदं॥
जय बासुदेव-पद-कंज नमो।
परद्युम्न बिभो! अपराध छमो॥
अनिरुद्ध सुखाकर रूप हरे।
पति-ऐगुन नाथ! छिमा जु करे॥
जय भक्तपते जदुनाथ प्रभो!
पद कंज नमामि नमामि बिभो॥
हिय अंतहकरन चतुर्बिध जो।
तुम कारन रूप सदा सब जो॥

दो०—अग जग के अंतहकरन, सकल प्रकासक नाथ।
सब के साच्छी रूप तुम, मम पति भयौ सनाथ॥

सो०—मन अरु बुद्धि बिचार! नहिं गोचर तव रूप हरि।
अहि कहँ यह अधिकार! तव महिमा कहुँ को लखै॥

इस प्रकार कालियपर किये गये शासनका अनुमोदन एवं श्रीकृष्णचरणसरोजोंमें शत-सहस्र प्रणाम निवेदन करनेके अनन्तर अब अन्तमें नागवधुएँ प्राणियोंकी परतन्त्रताका संकेत करती हुई कालियको क्षमा करनेके लिये, उसे प्राणदान देनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दनसे प्रार्थना करती हैं—

'सर्वेश्वर! तुम अनीह—इच्छारहित हो। तथापि अनादि कालशक्तिको स्वीकार करते हो! और फिर हे अमोघलीलाविहारिन्! सत्यसंकल्प! अपने ईक्षणमात्रसे संस्काररूपमें विद्यमान प्राणियोंके स्वभावको जाग्रत् कर देते हो; जाग्रत् करते हुए इस परिदृश्यमान विश्वका सत्त्वादि त्रिगुणोंके द्वारा सृजन, पालन एवं प्रलय करते हो!

'भगवन्! त्रिलोकीकी तीनों योनियाँ—सत्त्वप्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त, तमःप्रधान मूढ़—तुम विश्वनिर्माताकी ही लीलामूर्तियाँ तो हैं! तथापि संतजनोंका, धर्मका परिपालन करनेकी इच्छासे तुम अवतरित हुए हो। इसीलिये उनकी रक्षाके लिये आविर्भूत हुए तुम लीलामयको इस समय सत्त्वप्रधान शान्तजन ही प्रिय हैं, अन्य नहीं देव!

'शान्तात्मन्! स्वामीके लिये, पालकके लिये

आखिर एक बार तो अपनी प्रजा, संतानके द्वारा किया हुआ अपराध क्षमाके योग्य है ही। इसीलिये, स्वामिन्! क्षमा कर दो इस मूढ़के द्वारा किये हुए अपराधको भी। तुम्हें यह पहचानता नहीं, नाथ!

'हे परमदयालो! सर्वज्ञशिरोमणे! इस सर्पका प्राणान्त, बस, हो ही चला है। कृपा, कृपा करो, नाथ! साधु पुरुष हम अबलाओंपर सदा ही दयार्द्र रहते हैं। बस, अब, अब विलम्ब मत करो, भगवन्! प्राणतुल्य पतिको हमें भिक्षामें दे दो, दयामय!

'स्वामिन्! हम तुम्हारी दासियाँ तुम्हारे समक्ष उपस्थित हैं; हमारे योग्य सेवाका निर्देश करो, देव! क्योंकि तुम्हारे आदेशका श्रद्धासहित पालन करते ही कोई भी व्यक्ति समस्त भयसमूहोंसे त्राण पा लेता है, प्रभो!—

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक्।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे॥
तस्यैव ते ऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थास्नुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः॥
अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥
विधेहि ते किंकरीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतो भयात्॥
(श्रीमद्भा १०। १६। ४९—५३)

छं०—प्रभु कारन-कारज-रूप नमो।
गोजाल प्रवर्तक नाथ नमो॥
जग-संभव पालन आपु करौ।
पुनि अंत समै निज माहि धरो॥
गुन-ईस नियंता नाथ हरे।
पद-द्वंद नमामि, दया जु करे॥
जग आदि समै पुनि नाथ तुँही।
जस जासु अदिष्ट सध्यौ सब ही॥
प्रतिबोध करावत हौ तुम ही।
पद-कंज नमामि, कृपा कर ही॥
एहि तें जग जीव जहाँ लगि जे।
सब के करता तुम नाथ अजे॥
कोउ सांत, असांत जु मूढ महा।
जस संचित है, तस रूप लहा॥
तव क्रीडा-साधन हैं सिगरे।
सबके तुम रच्छक एक हरे॥
हित साधुन के अवतार स्वयं।
तेहि रच्छक हौ सुख कंदमयं॥
खल-खंडन, मंडन भूमि ब्रजं।
श्रुति-धर्म-पराय न त्रान अजं॥
छं०—बिनती प्रभु! मोरी सुनिय बहोरी, नंदसुअन सुखकंदा।
अहिजाति कुजाती अध मै खाती रचेहु मोर पति मंदा॥
यह प्रजा तिहारी छमहु बिचारी सुत पितु इव जदुनंदा।
तुम सीलनिधाना छमा प्रधाना छमहु नाथ यह अति मंदा॥
छं०—तुम दीन दयाला होहु कृपाला, न तरु तजै यह प्रान प्रभो!
हम कहँ बड़ सोचू, तिय मति-पोचू, दीजै पति यह दान बिभो॥
पद-पंकज-दासी, हे अबिनासी! जानि हमैं अब पाहि प्रभो!
तव आग्याकारी रहिहि मुरारी! नाथ! कृपा पति छाड़ि बिभो॥

नागसुन्दरियोंका यह स्तवन समाप्त होते-न-होते नीलसुन्दरके अरुणिम अधरोंपर समुज्ज्वल स्मित भरने लगता है। अन्तर्हृदयमें उठी हुई करुणाकी ऊर्मियाँ श्यामल अङ्गोंको चञ्चल करने लगती हैं। पुनः पीत दुकूल झलमल करने लगता है और देखते-ही-देखते वे कालियके फनोंसे उतर आते हैं—

तिय प्रेम सौं रचि बैन। मुसक्याइ राजिव नैन।
करुना उठी अति अंग। दिय छाँड़ि नाग अभंग॥

कालियद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति और श्रीकृष्णकी उसे ह्रद छोड़कर समुद्रमें चले जानेकी आज्ञा तथा गरुडके भयसे मुक्तिदान; कालिय एवं उसकी पत्नियोंद्वारा श्रीकृष्णकी अर्चना तथा उनसे विदा लेकर रमणक-द्वीपके लिये प्रस्थान

जिन आँखोंमें निरन्तर विषकी ज्वाला जलती रहती, कालियके उन नेत्रोंमें ही एक अतिशय पवित्र दैन्यका संचार होने लगा। क्रमशः इन्द्रियोंकी, प्राणोंकी शक्ति भी लौट आयी। नासाछिद्रोंसे व्यथाभरे दीर्घ निःश्वास अवश्य आ रहे हैं, किंतु भक्तिरसकी आर्द्रता उसे आत्मसात् करती जा रही है। और यह लो, उसके अत्यन्त सुलम्बित भयावह सर्प-शरीरके अन्तरालमें एक सौम्य देवविग्रहकी अभिव्यक्ति हो गयी। पहले भी कालियमें देवोंके अनुरूप अगणित शक्तियाँ वर्तमान थीं, वह इच्छित रूप धारण कर सकता था। और आज तो वह श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका पावन स्पर्श पाकर परम कृतार्थ हो चुका है। फिर इस समय अञ्जलि बाँधकर आराध्यदेवकी आराधना करनेका सुदुर्लभ अवसर वह क्यों छोड़ दे। इसीलिये अपने दुर्मद-दोषहारी श्रीहरि व्रजराजनन्दनके समक्ष कृताञ्जलि होकर वह अवस्थित हुआ है, उनका स्तवन करने जा रहा है—

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम्।
कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५५)

सावधान भा छन एक बीते।
इंद्रिय प्रान भए सुखहीते॥
अति दुख लह्यौ, सिथिल सब गाता।
मंद क्रिया, मुख आव न बाता॥
दीरघ स्वास डारि बहु बारा।
जैन-तैन हिय साहस धारा॥
दीन जोरि जुग हाथ महीसा।
बोल्यौ हरि सन बचन अहीसा॥

× × ×

करि आइ कालिय प्रीति, गति मंद-मंद बिनीति।
प्रभु पाँइ मेले सीस, करिये कृपा जगदीस॥

कालिय कहने लगा—'नाथ! महामहेश्वर! हम जन्मसे ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। तमका घन आवरण हमपर नित्य फैला रहता है। विवेकसे सर्वथा शून्य हम हैं, प्रभो! क्रोध हमारा चिरसङ्गी है। हमारी प्रतिशोधकी भावना कभी शान्त होती ही नहीं। क्या करें—किसीके लिये, जीवमात्रके लिये, अपने स्वभावका परित्याग अत्यन्त कठिन जो है, नाथ! और यही कारण है कि जीव अनेक प्रकारके दुरभिनिवेशोंमें रच-पच जाता है; बस तुम्हीं बचा सकते हो, सर्वेश्वर!—

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ५६)

हम निसर्ग तें खल अति घोरा।
तामस अधिक, क्रोध नहिं थोरा॥
नाथ! सुभाव दुसह सब काहू।
तजि न सकै कोउ, भलि मति जाहू॥
आग्रह असत करै सब कोई।
त्यागि न सकै कोऊ किन होई॥

'हे विश्वविधाता! इस स्थावर-जंगम सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत्की रचना तुमने ही की है। तुम्हीं सोचो, स्वामिन्! गुणोंके भेदसे यह विस्तार, नानाविध स्वभाव, देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति, वासना, आकृति—इनसे विशिष्ट यह विविध वैचित्र्यमय विश्व तुमसे ही तो सृष्ट है! और तुम्हारी ही सृष्टिमें, तुमसे ही निर्मित हम सर्प भी हैं, सर्वेश्वर! जातिस्वभावसे ही हम अत्यन्त क्रोधी हैं; तुम्हारी मायासे नितान्त मोहित हैं। अब, भला, तुम्हारी कृपाके बिना, स्वयं अपनी शक्तिसे ही तुम्हारी दुस्त्यज मायाको हमारे लिये पार कर लेना कैसे सम्भव है भगवन्?

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम्।

नानास्वभावर्वीर्योजोयोनिबीजाशयाकृति ॥
स्वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ५७-५८)

नाथ! बिस्व यह गुन कृत कीन्हा।
जस गुन जासु, तासु तस चीन्हा॥
पुनि नाना बिधि जाति सुभाऊ।
बल बिक्रम आकार बनाऊ॥
जस जेहि जोनि, बीज जस जासू।
फल उपजै तैसैं तब तासू॥
हे भगवंत अनंत गोसाईं।
हम पुनि सर्प जाति दुखदाईं॥
बिषधर, क्रूर, क्रोध नहिं थोरा।
किमि त्यागहिं निज प्रकृति कठोरा॥
तव माया मोहित हम स्वामी।
अति अतर्क पद कंज नमामी॥
माया दुस्तर नाथ! तव, सो तव सदा अधीन।
माया कृत चर-अचर सब, कैसी करैं प्रबीन॥

× × ×

रिस सर्प में अधिकाइ, तम जोनि, दुष्ट सुभाइ।
मद मोह कोह प्रबंध, फिरि हैं बिरज बिस अंध॥
इन में सदा मन दीन, तव भक्ति में नहिं लीन।
तुम दीनबंधु दयाल, मुहि रच्छ रच्छ कृपाल॥

'तुमसे छिपा ही क्या है, नाथ! तुम सर्वज्ञ जो ठहरे, जगत्के समस्त प्राणियोंके सम्पूर्ण स्वभावको सदा जानते रहते हो। जगन्नियन्ता भी तुम्हीं हो, तुमसे ही तो जगत्के समस्त जीवोंके स्वभावोंका सृजन एवं नियन्त्रण होता है। मायाकृत बन्धनमें, तथा मायापाशसे मुक्तिदानमें भी तुम्हीं मुख्य हेतु हो, प्रभो! अब तुम स्वेच्छासे मेरे प्रति अनुग्रह तथा निग्रह—जो भी करना चाहो—वही करो, सर्वेश्वर! हमारे लिये तो तुम्हारी इच्छा ही परम कल्याणमय है, वही शिरोधार्य है, स्वामिन्! बस, आदेश करो, देव!—

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ५९)

तुम सर्वग्य, सुजान, जिमि कोउ पाल बबूर बन।
आँव न फरै निदान, तद्यपि हम आधीन तव॥
कारन-करन-ईस भगवंता।
सब जग के तुम एक, अनंता॥
निग्रह, अनुमोदन—दोउ नाथा।
सकल अहै प्रभु! तव एक हाथा॥
आग्या देहु, नाथ! तुम जैसी।
हम करिहैं संतत प्रभु तैसी॥

इतना कहकर कालिय स्थिरदृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगा। सचमुच अन्तस्तलसे ही वह व्रजेन्द्रनन्दनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा है। तथा नीलसुन्दर भी तुरंत ही उसे अपना निर्णय सुना देते हैं। व्रजपुरवासियोंका वह चिर-परिचित मधुस्यन्दी स्वर ह्रदके वक्षःस्थलपर सर्वत्र गूँज उठता है, वे अतिशय प्रेमभरे कण्ठसे स्पष्ट कह रहे हैं—

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ६०)

'कालिय! देख, अब तुझे यहाँ इस ह्रदमें, व्रजपुरकी सीमामें, मेरे इस लीलाक्षेत्रमें निवास नहीं करना चाहिये। तनिक भी विलम्ब न करके तू आत्मीय कुटुम्ब—पुत्र-भार्या—इन सबके सहित यहाँसे समुद्रमें चला जा तथा जाकर अपने उस पूर्व वासस्थलमें ही बस जा। अब तो यमुना-जलका उपभोग व्रजकी गायें एवं व्रजपुरवासी ही करें!'

सुनि असि बचन, कृष्ण सुखकंदा।
बोले बचन सुखद नँदनंदा॥
इहाँ न तू अब बसहि फनीसा!
जाहि सीघ्र तूँ तट बारीसा॥
जमुना जल पीवैं नर-नारी।
धेनु-बत्सतर होहिं सुखारी॥
सुत-दारादिक कौं लै साथा।
जाहि बेगि अबहीं, अहिनाथा॥

× × ×

सुखसदन मोहन मदन मूरति बदन-ससि मुसक्याइ कैं।
करुना-अगार अपार सोभा दयौ उर में ल्याइ कैं॥
दुखहरन उर सीतल करन प्रभु बचन कहत सुनाइ कैं।
अहिराज! सकल समाज लै तुम बसहु जलनिधि जाइ कैं॥

नतमस्तक हुए कालियने व्रजेन्द्रनन्दनके इस आदेशको स्वीकार किया। किंतु उन नागवधुओंकी आँखें तो झर-झरकर बह चलीं। 'हाय रे! शत-सहस्र जन्मोंकी अभिलाषा पूर्ण तो हुई, आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्र मिले अवश्य; पर उनकी लीलास्थलीका अब हमें परित्याग कर देना है!'—इस दुस्सह तापमें ही नाग-रमणियोंका हृदय द्रवित होकर बाहरकी ओर प्रवाहित होने लगता है, सामने अवस्थित नीलसुन्दरके उस श्यामल छबिसिन्धुमें ही विलीन होनेकी आशासे प्रसरित हो रहा है; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष दर्शनका यह अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य फिर प्राप्त हो, न हो!

इधर इसी समय बाल्यलीलाविहारीने एक क्षणके लिये आकाशकी ओर देखा। उस अभिनव मुग्धताकी ओटसे झाँकती हुई अनन्त ऐश्वर्यकी छाया—जिसने अभी-अभी कालियको सागर लौट जानेका आदेश किया है—किंचित् और भी गाढ़ी हुई। अन्तरिक्षके वे गन्धर्व, सिद्ध, देव, चारण आदि सचकित होकर उन्हें देखने लगे। प्रतीत हुआ—मानो कालियके मिससे व्रजराजनन्दन उन अन्तरिक्षवासियोंको, सम्पूर्ण जगत्में विस्तारित कर देनेके लिये, एक सुन्दर संदेश-दान करने जा रहे हों! और सचमुच ही उन महामहेश्वरने अपनी असमोर्ध्व महिमाके एक तनिकसे अंशकी घोषणा स्वयं अपने श्रीमुखसे कर ही दी। उनके वे दृग्-सरोज अन्तरिक्षसे मुड़कर पुनः नागराजपर ही पीयूषकी वर्षा करने लगे तथा मेघगम्भीर स्वरमें उन्होंने कहा—

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्तयन्नुभयोः संध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात्॥
योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६१-६२)

'कालिय! सुनो, जो व्यक्ति सायं-प्रातः तुम्हारे प्रति किये हुए मेरे अनुशासन-वाक्यको उच्चारण करते हुए मेरी इस लीलाका स्मरण करे, अथवा मेरी इस आज्ञाका या मेरे इस सम्पूर्ण चरित्रका स्मरण एवं कीर्तन करे, उसे सर्पोंसे भय न हो! देखो, यह ह्रद मेरा विहारस्थल बन चुका है। जो कोई इसमें विधिवत् स्नान करके, इस ह्रदके जलसे देव, ऋषि एवं पितृगणोंका तर्पण करेगा एवं तीर्थोपवासकी विधिसे उपवास कर मुझे स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा, वह समस्त पापोंसे पूर्णतया मुक्त हो जायगा।'

यह प्रसंग गावै जो सुनई।
तुम तें भय सो कबहुँ न लहई॥
एहिं सर जो मज्जन कोउ करिहै।
देव-पितर हित पिंड जु धरिहै॥
ब्रत करि मम सुमिरन अरु ध्याना।
जे करिहैं तेहि पाप नसाना॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी यह परम मधुर कल्याणमयी वाणी कालियके कर्णरन्ध्रोंमें भी प्रविष्ट हो रही है; किंतु अब तो उसका भी हृदय भर आया है। अतीतके अगणित वर्षोंकी घटनाएँ, अपने बहिर्मुख जीवनका प्रवाह और अभी-अभी व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा पाये हुए अनिर्वचनीय सौभाग्य-दानकी निराविल सुखानुभूति—दोनोंके अत्यन्त जीवंत प्रतिचित्र हृत्पटपर झलमल कर रहे हैं। पश्चात्तापकी दुस्सह व्यथा, परमानन्दका अपरिसीम उद्वेलन—दोनों क्रमशः, नहीं-नहीं, एक साथ ही उसके प्राणोंको अभिभूत कर रहे हैं। वह सोच रहा है—'इस महामलिन सर्पदेहमें अध्यस्त रहकर, इससे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंमें अपने-परायेकी भावनासे सतत भावित रहकर न जाने कहाँ-से-कहाँ बहता रहा हूँ, अपनी इस तमोमयी जीवन-धारामें बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियोंका निर्माण मैंने किया है। फिर भी इन सामने अवस्थित करुणावरुणालय प्रभु व्रजराजनन्दनने मुझे अपने चरणसरोजोंकी शीतल शंतम छायाका दान किया ही! प्राणधारण सफल हो गया मेरा। पर हाय! यह हुआ उस अन्तिम मुहूर्तमें जब कि मैं, बस, तुरंत इस आगेके कुछ क्षणोंमें ही—स्वेच्छा या अनिच्छासे—मृत्युको वरण करने जा रहा हूँ, ह्रदकी सीमाके उस पार कालिय नामसे अभिहित इस शरीरका सदाके लिये अवसान होने जा रहा है! पक्षिराज गरुड प्रतीक्षा ही कर रहे होंगे मेरी! और यद्यपि इस विनश्वर तमोमय सर्प-शरीरकी तो सचमुच अब चिन्ता ही क्या है, मेरी एकमात्र निधि, इन मेरे आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्रको

पा लेनेके अनन्तर अब क्या भय है; किंतु प्राणोंकी यह नवीन अभिलाषा तो हाय! अपूर्ण ही रह गयी! मेरा कर्मविपाक मुझे शरीर तो दे सकता है, पर ओह! श्रीकृष्णचरणसरोरुहसे स्पृष्ट हुए शरीरकी उपलब्धि मुझे कहाँ होगी? मेरे अनादि अज्ञान-तिमिरका आज सहसा अन्त हो जानेके उपरान्त इन मेरी भक्तिमती पत्नियोंके साथ, ऐसे पावन परिवारसे आवृत होकर, श्रीकृष्णचरणोंकी सेवा मैं आगे कहाँ किस जन्ममें कर पाऊँगा? आह! कदाचित् किसी भी मूल्यमें मैं इतना-सा और पा जाता— अपने इस शरीरको गरुडके मुखसे सुरक्षित अनुभव कर लेता! मेरे प्रभुके ही प्रिय पार्षद गरुडमें कृपालुता भर आती! मुझे कृपापूर्वक वे भी जीवन-दान दे देते। ह्रदकी सीमाका उल्लङ्घन करनेपर भी वे मेरा प्राण हनन न करते! फिर तो अवशिष्ट जीवनकी यह अन्तिम साध भी पूरी हो जाती; शेष आयुका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्णचरणसेवामें व्यतीतकर अपना यह मनोरथ भी पा लेता; मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक स्नेहदान करनेवाली मेरी इन पत्नियोंको चिरवाञ्छित वस्तुका दान करके इनके ऋणका भी किसी अंशमें परिशोध कर लेता; अबतक मेरी बहिर्मुखताको देख-देखकर निरन्तर व्यथित इनका हृदय, इनके अश्रुपूरित नेत्र शीतल हो जाते; मेरे साथ अवस्थित होकर श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रतिक्षण श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते रहनेकी इनकी लालसा पूर्ण हो जाती; हम सभी एक साथ क्षण-क्षणमें श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चरणोंमें न्योछावर होते रहते····! किंतु अब अवकाश नहीं; प्रभुने आज्ञा दे दी, बस, अब तो यहाँसे चलना है! देव! मेरे नाथ! हे परम कृपालो! भक्तवाञ्छाकल्पतरो! अशरणशरण! स्वामिन्! बस, इतनी कृपा हो—तुम्हारा यह कालिय, मृत्युपथका यह पथिक उस अन्तिम क्षणमें कहीं तुम्हें विस्मृत न हो जाय! जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी, किसी कालमें भी, एक क्षणके लिये भी तुम्हारे दिये हुए इस अप्रतिम कृपादानके अधिकारसे वञ्चित न हो जाय! बस, इतनी-सी कृपा, हे करुणार्णव!!·····

कालियके नेत्रोंसे भी बिन्दु झरने लगे। पर व्रजेन्द्र-नन्दनकी वह वीणाविनिन्दित वाणी तुरंत कालियके कण-कणको झंकृत कर उठी। वे कहने लगे—

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पदलाञ्छितम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६३)

'कालिय! सुनो, जिनके भयसे तुम रमणक-द्वीपको छोड़कर वृन्दावनके इस ह्रदमें निवास कर रहे हो, वे गरुड अब, तुम्हारे मस्तकको मेरे पद-चिह्नोंसे चिह्नित देखकर अपने मुँहका ग्रास तुम्हें नहीं बनायेंगे।'

रमनक नामा दीपबर, तहाँ बसौ सुख पाइ।
जासु त्रास तैं इत बस्यौ, सो भय गयौ नसाइ॥
गरुड़ खाइ तो कँह नहिं कबहूँ।
तहाँ बसहु सुत परिजन सबहूँ॥

× × ×

मम चरन चिह्नित फन तिहारे, बिहगपति यह जानि कैं।
करि कैं सुहृदता, हितु करै, मन मित्रता कौं मानि कैं॥

प्रेमविह्वल होकर कालिय श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें ही गिर पड़ा। आँखोंसे अनर्गल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है; किंतु अब उसे नीलसुन्दरके पादपद्मोंकी पूजा भी तो करनी है। इसीलिये किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उसे अनुप्राणित कर अग्रिम कृत्यकी प्रेरणा दी, अन्यथा उसमें तो ऐसी सामर्थ्य रही नहीं थी। जो हो, कालिय तुरंत यन्त्रप्रेरित-सा हुआ उठ बैठा, नीलसुन्दरके श्यामल सुकोमल कलेवरकी ओर उसकी दृष्टि गयी और हृदय विदीर्ण होने लगा—'हाय रे! इन्हीं मृदुल अङ्गोंको मैंने वेष्टित किया था, शतसहस्रदंशनसे क्षत-विक्षत करनेका अथक प्रयास किया था।' फिर तो कालिय मानो भूल-सा गया व्रजेन्द्रनन्दनके अपरिसीम ऐश्वर्यको; उसे बस, डँसे हुए उन-उन स्थलोंकी भावना होती और उसके प्राण हाहाकार करने लगते। सहसा झरते हुए नेत्रोंसे ही उसने अपनी पत्नियोंको कुछ संकेत किया। भक्तिरसकी लहरोंपर वे सब स्वयं बह रही थीं। इसीलिये पतिके रसमय प्राणोंका संवेदन उनमें संकेत मात्रसे ही व्याप्त हो गया। वे दौड़ीं, नहीं-नहीं, वहीं—न जाने कैसे—कालियके कोषागारकी सम्पूर्ण सम्पत्ति तत्क्षण उपस्थित हो गयी। कालियने, उसकी पत्नियोंने नीलसुन्दरको सर्वप्रथम एक परम दिव्य आसनपर पधराया; फिर दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुङ्कुम, चन्दन

आदिसे उनके समस्त अङ्गोंको विलेपित किया—मानो उनके प्राण अत्यन्त आकुल हो उठे हों इस विलेपनके द्वारा सबसे पहले उन दंशित स्थलोंकी वेदना हर लेनेके लिये! इसके अनन्तर परम दिव्य पीताम्बर धारण कराया। पश्चात् वहीं नाग एवं नागवधुओंके पार्श्वदेशमें रंग-बिरंगे विविध सुरभित कुसुमोंकी राशि एकत्र हो गयी; उनके स्पर्शमात्रसे ही अतिशय सुन्दर पुष्पमालाएँ गुम्फित हो गयीं और उन सबने व्रजेन्द्रनन्दनको एक-एक सौरभमय पुष्पमाला धारण करायी। अब पद्मराग आदि मणियोंका शृङ्गार धराया तथा अमूल्य अलंकारोंसे श्रीअङ्गोंको अलंकृत किया। फिरसे अतिशय शोभामय एक कमलमाला समर्पित की। इसीके साथ क्षणभरमें ही अर्चनाके कितने उपचार अर्पित हुए—यह गणना सम्भव ही नहीं है वहाँ। बस, उनके भावोंकी ऊर्मियाँ जिन-जिन उपचारोंका सृजन कर रही हैं, वे ही मूर्त हो जा रहे हैं और उनसे ही व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी अर्चना सम्पन्न हो रही है। और सच तो यह है कि महामहेश्वरके वे चिदानन्दस्वरूपभूत अलंकार आभूषण आदि ही—जो बाल्यावेश रसके अनुरूप न होनेके कारण तिरोहित हैं—आविर्भूत होकर उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श लेने आये हैं। इसीलिये तो नित्य कौस्तुभ भी आज उनकी ग्रीवाको, वक्षःस्थलको अलंकृत करने आया है—

तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम्॥
दिव्याम्बरस्रग्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६४ ६५)

पुनि सादर जुत बिबिध प्रकारा।
प्रभुहि पूजि कीन्हौ सतकारा॥
दिब्य बसन, मनिगन, सुभ माला।
दिब्य गंध सब सौरभ साला॥
दिब्य कंज स्रज भूषन आनी।
अरपेउ प्रभु कहँ, अति सुख मानी॥

अस्तु, इस प्रकार जगदीश्वरकी पूजा सम्पन्न हुई; कालियने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त की। अनुरागभरे हृदयसे उसने देवाधिदेवकी परिक्रमा की; फिर अनेक वन्दन समर्पित किये और रमणक चले जानेकी अनुमति ली—

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६६)

एहि बिधि प्रभुहि प्रसन्न कराई।
पुनि अति बिनय करयौ, मन लाई॥
आयसु माँगि प्रदच्छिन कीन्हा।
पुनि निज सिर हरिचरन सु दीन्हा॥

ह्रदके तटपर अवस्थित व्रजपुरवासी देख रहे हैं; अन्तरिक्षचारी देवगण देख रहे हैं—कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें एक वेगपूर्ण स्पन्दन हो रहा है, नहीं-नहीं, पत्नी-पुत्र-बन्धु-बान्धवके साथ कालिय यमुनाप्रवाहके मार्गसे चला जा रहा है; आगे सुरसरिकी धाराका अनुसरण करते हुए समुद्रके रमणक द्वीपमें चले जानेके उद्देश्यसे उसने इस जलपथका ही आश्रय लिया है—

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह।

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६७)

सुत कलत्र मिलि कै एक साथा। गए द्वीप रमनक नर नाथा॥

और तपनतनया श्रीयमुनाके ह्रदका वही जलप्रवाह तत्क्षण निर्विष ही नहीं अपितु सुधा-मधुर बन गया है—

तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ६७)

ता दिन ते रबिसुता सुहावनि।
गत-बिष भई सुभग अति पावनि॥

अब विविध शृङ्गारसे सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तो तटकी ओर अग्रसर हो रहे हैं तथा अन्तरिक्ष एवं वृन्दाकाननका कण-कण देवोंके जयघोषसे नादित हो रहा है—

जय-जय धुनि अमरनि नभ कीन्हौ।
धन्य-धन्य जगदीस गुसाईं अपनौ करि अहि लीन्हौ॥

महाकाय सर्पके चंगुलसे विजयी होकर निकले हुए श्रीकृष्णका क्रमशः सखाओं, मैया रोहिणीजी, बाबा, अन्य वात्सल्यवती गोपियों तथा बलरामजीद्वारा आलिङ्गन; फिर गौओं, वृषभों एवं वत्सोंसे गले लगकर मिलना; सम्पूर्ण व्रजवासियोंका रात्रिमें यमुना-तटपर ही विश्राम

श्रीकृष्णचन्द्र ह्रदकी उस गभीर जल-राशिपर इस प्रकार चरण रखते हुए बाहर निकल आये, जैसे वह स्थल हो और तटपर आते ही श्रीअङ्गोंकी अप्रतिम शोभासे ह्रदका सम्पूर्ण परिसर उद्भासित हो उठा। दिव्य माल्य, चन्दन एवं वस्त्रकी शोभा, अमूल्य रत्नाभरणोंकी छटा, स्वर्णालंकारकी वह चमक-दमक—सब कुछ अनोखी थी।

कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम्।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १३)

तब नँद-नंदन दह तैं निकसे।
मुसकत नवल कमल-से बिकसे॥
अहिपति निज कर पूजे स्याम।
अद्भुत पट, अद्भुत मनि-दाम॥
बन्यौ जु बदन सु को छबि गनौं।
दीनी ओप चंद मधि मनौं॥
× × ×
इत जमुन-दह तैं कढ़े सुंदर स्याम घन छबि छाजहीं।
नव रतन भूषन तन अलंकृत किरन जगमग राजहीं॥

व्रजपुरवासियोंकी दृष्टि तो सदासे उस ओर केन्द्रित थी ही; किंतु अब मानो मृत देहमें सचमुच ही प्राणोंका संचार हो गया हो, इस प्रकार उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं। उनके कोटिप्राणसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र उनके सामने पुनः अवस्थित हैं, यह अनुभव करते ही उनका कण-कण परमानन्दसे पूर्ण हो उठा। सबसे पहले सुबल एवं श्रीदाम—दोनों ही विद्युत्-वेगसे दौड़कर नीलसुन्दरके समीप आये। दोनोंने एक ही साथ उन्हें अपने भुजपाशमें भर लिया। इसके अनन्तर वे असंख्य गोपबालक अपने प्राणसखासे मिलने आये। प्राकृत जगत्में तो यह सम्भव नहीं, पर वहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दनने एक साथ प्रत्येक सखाका ही प्रेमालिङ्गन स्वीकार कर लिया। स्नेहके उस स्रोतमें श्रीकृष्णचन्द्र एवं सखा डूबने-उतराने लगे, कुछ क्षणके लिये सचमुच ही सुध-बुध भूल गये—

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १४)

देखि कृष्न कहँ सब ब्रजबासी।
हरषि उठे लहि सुख की रासी॥
प्रान पाइ इंद्रीगन जैसैं।
सुखित भए सब एहि बिधि तैसैं॥
गोपन कहँ आनंद अपारा।
मिले परस्पर बारहिं बारा॥

इतनेमें जननी यशोदा आयीं। अघटघटनापटीयसी योगमायाने उनके लिये भी स्थान बनाया। सखाओंके भुजपाशसे नीलसुन्दर सहसा अनावृत हो गये। जननीको अपनी प्राणनिधि अपने सामने अत्यन्त निकटमें ही दीख गयी, किंतु मैया एवं मैयाके लालका वह मिलन—ओह! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दें! केवल उसकी छायामात्र—सो भी न जाने कितने कालके अनन्तर—इतनी-सी झंकृत हो सकी—

मन संग हिय अगवानि करि जननी लए लट आइ कैं।
पय स्रवत, आँसू ढरत अंक गुबिंद भेंटे धाइ कैं॥

× × ×

लीन्ही जननि कंठ लगाइ।
अंग पुलकित, रोम गदगद, सुखद आँसु बहाइ॥

अब श्रीरोहिणीजीने नीलसुन्दरको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया—

लखि अतुल-छबि प्यारे ललन, उर उरकि लागी रोहिनी।

व्रजेश्वर अबतक मानो प्रतीक्षा-सी कर रहे थे। बालकोंको, व्रजरानीको, श्रीरोहिणीको ही प्रथम अधिकार है नीलमणिको अपने वक्षःस्थलपर धारण करनेका—सुप्त चेतनाकी यह भावना उन्हें रोके हुए थी। पर उनका मिलन तो हो चुका। इसीलिये अब धैर्यका बाँध टूटा। परम शीलवान् व्रजेन्द्र प्रेमजनित उत्कण्ठासे अतिशय चञ्चल हो उठे। उनकी गम्भीरता नष्ट हो गयी। विलम्ब असह्य हो गया। व्रजपुरन्ध्रियोंकी अपार भीड़का भी जैसे उन्हें तनिक भान न रहा हो, ऐसे वे उस स्त्री-समूहमें प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्कमें भर लिया—

ततः प्रेमौत्कण्ठ्यचुलुकितगाम्भीर्यो विलम्बासहिष्णुः स्त्रीसम्मर्दमध्य एव प्रविश्य नन्दः।

(सारार्थदर्शिनी)

गहबर गरे उर कहँ भरे, कहि नंद कछुव न आवहीं।
धरि अंक सुत कौं अंग लागे, रंक ज्यौं निधि पावहीं॥

फिर अवसर मिला वात्सल्यवती गोपियोंको। सबने ही श्रीकृष्णचन्द्रको अपने हृदयपर धारणकर प्राण शीतल किये। तथा इसके अनन्तर मिलन हुआ उपनन्द आदिका एवं तरुण व्रजगोपोंका। श्रीकृष्णचन्द्र उनके कण्ठसे लगकर, उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डालकर झूलने लगे—

ततोऽन्या गोप्यो वत्सला गोपाश्चोपनन्दादयः।

(सारार्थदर्शिनी)

और वे तरुणी गोपसुन्दरियाँ, गोपकुमारिकाएँ—व्रजेन्द्रनन्दनको यद्यपि अपने वक्षःस्थलपर प्रत्यक्षरूपसे धारण न कर सकीं, फिर भी अपने दृगञ्चलके पथसे उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही; उनकी इन्द्रियोंमें भी सामयिक शक्तिका संचार हुआ; उनके मनोरथ भी पूर्ण हुए। मृत्युके उस पारसे वे भी मानो लौट आयीं—

पूर्वरागवत्यो गोप्यश्च दूरतो लोचनाञ्जलीभिरेव समेत्य परिष्वङ्गादिभिः संगतीभूय लब्धचेष्टा लब्धवाञ्छिता मृता इव जीवन्त्यो बभूवुः।

(सारार्थदर्शिनी)

इस प्रकार व्रजपुरवासी—व्रजेन्द्रगेहिनी, श्रीरोहिणी, व्रजेश्वर, गोपिकाएँ, गोप, गोपतरुणियाँ, गोपकुमारिकाएँ—नीलसुन्दरसे यथायोग्य मिलकर परमानन्दमें निमग्न हैं। सबका मनोरथ पूर्ण हो गया है। आनन्द-सिन्धुकी लहरें सबको आत्मसात् कर रही हैं—

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १५)

सुख-पयोधि पय प्रेम कौ उमगि चल्यौ चहुँ ओर।
प्रीति-लहरि लखि-लखि बढ़तु राकारमन किसोर॥

अबतक रोहिणीनन्दन श्रीबलराम दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुखका आनन्द ले रहे थे, किंतु अग्रज-अनुजका मिलन भी तो अनिवार्य है। इसीलिये दाऊ भैया भी दौड़े ही और लपककर अनुजको वक्षःस्थलपर धारण कर लिया। अवश्य ही दाऊ भैयाके नेत्रोंसे अश्रु ढलकनेपर भी मुख-कमलपर एक दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं। वे क्यों न हँसें, अपने भाईके अनन्त ऐश्वर्यसे वे चिर-परिचित जो ठहरे—

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।

(श्रीमद्भा० १०। १७। १६)

मिलि बलदेव हँसे मुसुकाई।
जानत भ्रात-चरित-सभुदाई॥

किंतु दूसरे ही क्षण बाल्यलीलारसका उनमें भी आवेश हुए बिना न रहा। रोहिणीनन्दनका वह नित्यसिद्ध

ज्ञान, अपने अनुजके अपरिसीम ऐश्वर्यकी अनुभूति स्नेहरसकी उत्ताल तरङ्गोंमें सहसा विलीन हो गयी। और यह लो, वे नीलसुन्दरको अपने क्रोडमें धारण कर बारंबार देखने लगते हैं 'कहीं दुष्ट कलियके द्वारा उन मृदुल अङ्गोंमें कोई क्षत तो नहीं हो गया है!'—

प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत।

अग्रजसे मिल लेनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि उस असंख्य धेनुराशिकी ओर जाती है। वे गायें, वृषभ, वत्स अभी भी चित्रलिखे-से हुए निष्पन्द मुग्ध-से अवस्थित हैं, अपलक दृष्टिसे उनकी ओर ही देख रहे हैं। सदा ही ये गायें श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही उनकी ओर दौड़ पड़तीं। पर आज वे स्वयं चलकर नहीं आयीं! कारण स्पष्ट है— वे गोपगोपी समूहके श्रीकृष्णमिलनमें बाधक बनना नहीं चाहतीं पशुयोनिमें होनेपर भी उनमें पशुताका अभाव है। वे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गायें जो ठहरीं। अस्तु, अब नीलसुन्दर उनकी ओर ही दौड़ पड़ते हैं, जाकर उनके ग्रीवा-देशमें अपनी भुजाएँ डाल देते हैं। एक साथ प्रत्येक गौ, वृषभ, वत्सको ही श्रीकृष्णचन्द्रका परम दिव्य स्पर्श प्राप्त हो जाता है। उस समय उन मूक पशुओंकी दशा—ओह! कोई कैसे बताये! वे गायें अपनी सजल आँखोंसे श्रीकृष्णचन्द्रको मानो पी जाना चाह रही हों, अपने प्रफुल्ल नासपुटोंसे उनके प्रत्येक अङ्गको ही सूँघ रही हों, अपनी रसज्ञा रसनाके द्वारा प्रेमातिरेकवश उन्हें चाट लेना चाह रही हों; प्रेमविह्वलताके कारण मधुर अस्फुट हाम्बारव करती हुई मानो वे नीलसुन्दरका कुशल जान लेना चाह रही हों—'मेरे जीवनाधार! कालियके द्वारा तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आयी!'—

धेनुभिरपि सास्रैरेव नयनपुटैः पीयमान इव प्रफुल्लाभिर्घोणाभिर्घ्रायमाण इव रसज्ञाभी रसज्ञाभी रभसेन लिह्यमान इव कलगद्गदेन हम्बारवेण सप्रणयमनामयं पृच्छ्यमान इव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उस असंख्य धेनुराशिसे मिल रहे हैं, उस समय उनके चरणसरोरुह हृदकी उस जली हुई तट-भूमिको, तृणरहित स्थलको स्वाभाविक अपना पावन स्पर्श दान करते जा रहे हैं और इसका यह तत्क्षण परिणाम हो रहा है—अद्भुत हरितिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। वह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुलित श्यामल बन जाता है। इतना ही नहीं, हृदकी सीमासे पारके जो वृक्ष विषकी ज्वालासे झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दरकी दृष्टि पड़ते ही तत्क्षण पल्लवित, पुष्पित हो गये—

नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्।

(श्रीमद्भा० १०। १७ १६)

धेनु बृच्छ अछरा सब सारे।
लहे परम आनँद अति भारे॥

इसी समय अपने परिवारको साथ लिये व्रजवासी ब्राह्मण एवं गोपकुल-पुरोहितगण व्रजेन्द्रके समीप आये। ये सभी आये तो वहाँ पहले ही थे। जब सम्पूर्ण व्रज अशकुनका अनुभव कर कालियहृदकी ओर भाग छूटा था तो ये भी उनके पीछे-पीछे दौड़ आये थे, किंतु आकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। अब पुनः व्रजेन्द्रनन्दनके दर्शनसे ये भी अतिशय प्रफुल्लित हो उठे एवं व्रजेशसे कहने लगे—'नन्दराय! सुनें, तुम्हारे एवं हम सबके भाग्यसे ही तुम्हारा पुत्र श्रीकृष्ण अक्षत बचकर चला आया, कालिय-जैसे महाविषधर नागसे ग्रस्त होनेपर भी यह छूट आया। एकमात्र श्रीनारायणकी अनुकम्पासे ही यह सौभाग्य हम सबोंके लिये सम्भव हुआ है व्रजेश! शीघ्र ही श्रीनारायणकी अर्चनाके रूपमें महामहोत्सव आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दानसे परितृप्त कर दो।' तथा व्रजेशने भी अतिशय प्रसन्नताका अनुभव करते हुए तत्क्षण इस आदेशका पालन किया। अपरिमित स्वर्णराशि, अगणित गो दानका संकल्प व्रजेन्द्रने अविलम्ब ग्रहण कर लिया संकल्पपाठके समय व्रजेश्वरकी आँखें बरस रही हैं एवं मनका प्रत्येक

अंश इस भावनामें निमग्न है—'मेरे प्राणधन नीलमणिको ऐसी कोई विपत्ति छूतक न सके, सदा ही मेरा लाल इन सबसे सर्वथा अक्षत बच निकले।'

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। १७-१८)

आए ब्रज के द्विज अनुरागे।
नंद सौं कहन सबै यौं लागे॥

× × ×

बोले भूसुर आइ, अहो नंद तव भाग्य बड़।
पर्‌यौ सर्प-मुख जाइ, दैव बचायौ सुअन तव॥
देहु दान द्विज कौं सनमानी।
अहि तैं छुट्यौ तनय निज जानी॥
सुनि कै नंद बहुत सुख माना।
दिए धेनु, कंचन, मनि नाना॥

× × ×

जु कछु जन्म-उत्सव में कीनौं।
ब्रजपति तातैं दूनौ दीनौं॥

अस्तु, सबका मिलन सम्पन्न होनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र पुनः जननीके पास ही चले आये। जननीने भी अपने लालको हृदयसे लगाकर क्रोडमें धारण किया। महाभाग्यवती कृष्णवत्सला मैया यशोदा अपने विनष्टप्राय पुत्र नीलमणिको फिरसे हृदयपर धारण कर सकीं—बस, इससे अधिक उन्हें और कुछ नहीं चाहिये; किंतु उनके आँसू अभी भी थम नहीं रहे हैं। नीलसुन्दरको गोदमें लिये मूर्ति-सी बनी वे बैठी हैं तथा नेत्रोंसे निर्गल अश्रुप्रवाह बहता जा रहा है—

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २१)

जसुमति परम भाग्य निधि भूपा।
नष्ट प्राय सुत लह्यौ अनूपा॥
अंक राखि, पुनि-पुनि हिय लाई।
जलज-नयन जल-धार बहाई॥

जननीका यह करुणभाव सबको आर्द्र कर देता है। पुनः सबकी आँखें झरने लगती हैं—

चलत सबन के नैनन नीर।
जनु निकसी जल ह्वै उर पीर॥

बीच-बीचमें व्रजेन्द्रगेहिनी अस्फुट कण्ठसे बार-बार इतना-सा कह उठती हैं—

मैं तुमहिं बरजति रही हरि, जमुन-तट जनि जाइ॥
कह्यौ मेरौ कान्ह कियौ नहिं, गयौ खेलन धाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र मैयाके अङ्कमें विराजित रहकर मन्द-मन्द हँस रहे हैं। अचानक उनके चञ्चल नेत्र किंचित् और भी चञ्चल हो उठे। ताली पीटकर, हँसकर उन्होंने व्रजेशका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और पुकार उठे—'बाबा! बाबा! विलम्ब मत करो, वे कमलपुष्प कंसको भेजने हैं न; शीघ्र भेज दो!'—

तुरत कमल अब देहु पठाइ।
सुनहु तात कछु बिलँब न कीजै, कंस चढ़े ब्रज ऊपर धाइ॥

फिर तो व्रजेश्वर चौंक उठे, व्रजरानीका वह करुणभाव शिथिल हो गया। अन्य समस्त व्रजवासियोंका ध्यान भी उधर ही जा लगा। ऐसा इसीलिये हुआ कि व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिकी योजनाके अनुसार ही तो लीलाप्रवाह अग्रसर होगा। उसी योजनासे अबतक सब कुछ हुआ है, आगे अनन्त कालतक होता रहेगा। व्रजेश्वरके समीप सम्राट् कंसका दूत आया था, कालियहृदके कमलपुष्प सूर्यास्तसे पूर्व सम्राट्के समीप प्रेषित कर देनेकी आज्ञा हुई थी, व्रजेश्वर-व्रजवासी चिन्तामें निमग्न थे तथा उससे पूर्व रात्रिमें श्रीकृष्णचन्द्रने एक स्वप्न देखा था। मैया स्वप्न सुनकर आकुल हो गयी थीं। इन सबकी सर्वथा विस्मृति जिस योजनाके अनुसार हो गयी थी, उसीके अनुसार अब समयपर पुनः स्मृति

भी उदय हो आयी है। जो हो, व्रजेश्वर तो नीलसुन्दरकी बात सुनते ही अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोचने लग गये तथा बाल्यलीलाविहारी जननीकी ठोढ़ी छूकर अतिशय मधुकण्ठसे उन्हें प्रबोध देने बैठे—

कंस कमल मँगाइ पठए, तातैं गयउँ डराइ।
मैं कह्यौ निसि सुपग तोसौं, प्रगट भयौ सु आइ॥
ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत, आयौ जमुना तीर।
कानु लै मोहिं डारि दीन्हौ, कालिया-दह-नीर॥
यह कही तब उरग मो सौं, किन पठायौ तोहि।
मैं कही, नृप कंस पठयौ, कमल कारन मोहि॥
यह सुनत डरि कमल दीन्हौ, लियौ पीठि चढ़ाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुमहीं आइ॥

जय हो बाल्यलीलारसमत्त प्रभु व्रजेन्द्रनन्दनकी! प्रभुकी शिशुसुलभ परम रसमय सरल वचनावलीकी!!

और वह देखो—वहाँ कालियह्रदकी ओर! जहाँ उस सुविस्तीर्ण ह्रदके जलपर एक तृणका चिह्नतक उपलब्ध न था, वहीं सर्वत्र मानो कमलपुष्पोंका ही आस्तरण आस्तृत हो रहा है, राशि राशि विकसित पद्मोंसे सम्पूर्ण ह्रद आच्छादित हो रहा है! इतना ही नहीं, ह्रदके स्थान-स्थानपर एकत्र किये हुए पद्मपुष्पोंका अंबार लग रहा है।

दृश्य देखकर व्रजेश्वरका रोम-रोम खिल उठा। व्रजपुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं रहा। आदेशभरकी देर थी। सभी सेवक कंस-सम्राट्के लिये आवश्यक उपहार-सामग्री एकत्र करनेमें जुट पड़े। व्रजसे शकटोंका समूह आया। भेंटकी अन्य सामग्रियाँ आयीं। देखते-देखते ही तीन कोटि पद्मपुष्प सहस्र शकटोंमें पूरित कर दिये गये और गोपरक्षकोंके संरक्षणमें शकट मधुवनकी ओर चल पड़े—

सहस सकट भरि कमल चलाए।
अपनी समसरि और गोप जे, तिन कौं साथ पठाए॥
और बहुत काँवरि दधि-माखन, अहिरनि काँधैं जोरि।

व्रजेश्वरने सम्राट् कंसके लिये पत्र भी दिया एवं कुछ मौखिक संदेश भी दिये—

नृप कें हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि॥
मेरौ नाम नृपति सौं लीजौ, स्याम कमल लै आए।
कोटि कमल आपुन नृप माँगे, तीनि कोटि हैं पाए॥
नृपति हमहिं अपनौं करि जानौ, तुव लायक हम नाहिं।
सूरदास कहियौ नृप आगैं, तुमहिं छाँड़ि कहँ जाहिं॥

इधर भुवनभास्करका रथ अस्ताचलको स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र किंचित् चिन्तित-से हो गये—'इतने बड़े समुदायके साथ व्रजमें पहुँचते-पहुँचते अर्द्ध निशा हो जानेमें संदेह ही क्या है!' किंतु नीलसुन्दरने अपने तातकी यह चिन्ता हर ली, अतिशय सुन्दर समाधान कर दिया—

ब्रजबासिनि सौं कहत कन्हाई।
जमुना-तीर आजु सुख कीजै, यह मेरें मन आई॥
गोपनि सुनि अति हरष बढ़ायौ, सुख पायौ नँदराइ।
घर-घर तैं पकवान मगायौ, ग्वारनि दियौ पठाइ॥
दधि-माखन षट-रसके भोजन, तुरतहिं ल्याए जाइ।
मातु-पिता-गोपी-ग्वालनि कौं, सूरज प्रभु सुखदाइ॥

यमुनातटपर श्रीकृष्णको बीचमें रखकर सोये हुए समस्त व्रजवासियों एवं गायोंको घेरकर दावाग्निके रूपमें कंसके भेजे हुए दावानल नामक राक्षसकी मायाका आधी रातके समय प्रकट होना और सबका भगवान् नारायणकी भावनासे श्रीकृष्ण-बलरामको रक्षाके लिये पुकारना तथा उनका जगते ही फूँकमात्रसे दावाग्निको बात-की-बातमें बुझा देना

रजनीकी वह 'साँय-साँय' ध्वनि कंसको सहस्र-सहस्र सर्पोंके श्वासोच्छ्वास-सी लग रही है। प्रकोष्ठमें एकाकी वह उन आये हुए कमल-पुष्पोंकी चिन्तामें ही निमग्न है; वे उसे असंख्य विषधर नाग-से प्रतीत हो रहे हैं तथा रह-रहकर गूँज उठता है उसके कर्णरन्ध्रोंमें व्रजेन्द्रनन्दनका वह गुप्त रहस्यमय संदेश, जिसे उन्होंने अपने बाबासे, मैयासे, व्रजपुरवासियोंसे—सबसे छिपाकर हँसते हुए, कमल-भारवाहक गोपोंके प्रमुखको दिया था और उस गोपने भी उसे ज्यों-का-त्यों निवेदित कर दिया था। वह इनपर जितना अधिक विचार करता, उतना ही उसका उद्वेग बढ़ता; प्राण उसी अनुपातसे सत्त्वहीन होने लगे थे और शरीरका भान भी विलुप्तप्राय हो चला था—

कमल सकटनि भरे ब्याल मानौ।
स्याम के बचन सुनि, मनहिं मन रह्यौ गुनि,
काठ ज्यौं गयौ घुनि, तनु भुलानौ॥

शूलकी भी इतनी व्यथा नहीं, जितनी इन पंक्तियोंमें थी—

यह कह्यौ स्याम-बलराम, लीजौ नाम,
राज कौ काज यह हमहिं कीन्हौ।
और सब गोप आवत-जात नृप-बात कहत,
सब सूर मोहि नहीं चीन्हौ॥

और इसके उत्तरमें कंसकी बुद्धि बारंबार एक ही निष्कर्षके पास जा पहुँचती—

यासौं मेरौ नहीं उबार।
मोहि मारि, मारै परिवार॥
दैत्य गए, ते बहुरि न आए।
काली तैं ये क्यौं बचि पाए॥
ताही पर धरि कमल लदाए।
सहस सकट भरि ब्याल पठाए॥
एक ब्याल मैं उनहिं बताए।
कोटि ब्याल मम सदन चलाए॥

घड़ीभर पूर्व अपना समस्त साहस, सम्पूर्ण शक्ति बटोरकर, हृदयके दुःखको छिपाते हुए उसने पुष्प लानेवाले गोपोंको आदरके साथ विदा अवश्य किया था, व्रजेशके प्रति भी सम्मानकी वस्तुएँ प्रेषित कीं, मिथ्या प्रेम-संदेश भी भेजा था—

हृदय दुख, मुख हलबली करि, दिए ब्रजहिं पठाइ।
नंद कौं सिरपाव दीन्हौ, गोप सब पहिराइ॥
यह कह्यौ बलराम-स्यामहि देखिहौं, दोउ भाइ।
अतिहिं पुरुषारथ कियौ उन, कमल दहके ल्याइ॥

पर अब उसका धैर्य छूट गया है; क्योंकि असम्भव बात घटित हो गयी है, कालियसे भी नन्दनन्दन बच ही आये!—

भयौ बेहाल, नँदलाल कैं ख्याल इहिं,
उरग तैं बाँचि फिरि ब्रजहिं आयौ।

इसी समय अचानक कोष्ठकी नीरवता भङ्ग हुई।

द्वारीने सम्राट्का अभिवादन किया। पश्चात् राक्षसदूतने संवाद बताया—'देव! नवीनतम सूचना यह है—व्रजराज, व्रजराजतनय, समस्त व्रजपुरवासी—सभी यमुनातटपर ही आज विश्राम कर रहे हैं। सूर्यास्त हो जानेके कारण गोपपुरीमें नहीं लौटे!'

और इतनेमें संयोगवश ठीक अवसरपर वहीं आ पहुँचा वह दावानल नामसे अभिहित महामायावी दानव; सो भी अकेला नहीं, सपरिकर!

फिर तो मधुवनका वह अतिशय विषण्ण राजा, अभी-अभी मृतप्राय-सा प्रतीत होनेवाला वह कंस हुंकार कर उठा। उस समय उसकी आँखोंमें स्पष्ट व्यक्त हुई एक विचित्र-सी नृशंस उत्फुल्लता राक्षस सामन्तोंके लिये दर्शनीय वस्तु थी। महाकर्कश स्वरमें अधिपतिका आदेश भी सबने तुरंत ही सुन लिया—

भवन्तस्तत्र प्रविशन्तः समन्ततः प्रबलतया ज्वलनं प्रज्वलनमाचरन्तः स्वयमन्तर्धानमाचरन्तु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'आप सभी उसी वनमें प्रवेश करते हुए, चारों ओरसे अत्यन्त प्रबलरूपमें अग्निज्वालाकी राशि—महान् राशि धधकाते चले जायँ और फिर स्वयं अन्तर्धान हो जायँ!'

विशेषतः दावानल नामक दैत्यके लिये यह आदेश अट्टहासके साथ इन शब्दोंमें पुनः दुहरा दिया गया—

कह्यौ दावानलहि, देखौं तेरे बलहि,
भस्म करि ब्रज पलहिं, कहि पठायौ।

अब क्या कहना है दावानलके कण-कणसे फूटते हुए अभिमानकी लपटोंका!—

चल्यौ रिस पाइ अतुराइ तब धाइ कै,
ब्रज-जननि बन सहित जारि आऊँ।
नृपति के लै पान, मन कियौ अभिमान,
करत अनुमान चहुँ पास धाऊँ॥
बृंदाबन आदि, ब्रज आदि, गोकुल आदि,
आदि बृन्यादि सब अहिर जारौं।
चल्यौ मग जात, कहि बात, इतरात अति,
सूर प्रभु सहित संघारि डारौं॥

इधर तपन-तनया श्रीयमुनाके शान्त तटपर व्रजेश्वर, व्रजरानी, रोहिणी, व्रजराजकी समस्त प्रजा एवं उनके प्राण-सर्वस्व राम-श्याम तन्द्रित हो चुके हैं। ह्रदसे कुछ दूर हटकर अतिशय मनोहर मण्डलोंकी रचना कर दी गयी है। श्रीकृष्णचन्द्रको मध्यमें विराजित करके उनके चारों ओर, उन्हें वेष्टित करते हुए व्रजराज आदि अवस्थित हैं। कहीं तो सखाओंका दल है, कहीं व्रजेश्वरी आदि विराजित हैं, कहीं अपनी माताओंके निकट कुमारिकाएँ हैं और कहीं सासके समीप गोपवधुएँ। यह प्रथम मण्डल है—

तदेवं श्रीकृष्णं मध्यमध्यवस्थाप्य तमभितोऽभितो व्रजराजादयः क्वचन सखायः क्वचन व्रजेश्वरीप्रभृतयः। क्वचन मातृनिकटस्थाः कुमार्य्यः क्वचन श्वश्रूनिकटस्था वध्वश्च।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस मण्डलसे बाहर चारों ओर गोपसुन्दरियोंके पति—युवक गोपसमूहोंको स्थान मिला है। यह दूसरा मण्डल हुआ। तथा इनके चारों ओर तृतीय मण्डलमें धनुर्धर गोपोंकी टोलियाँ विश्राम कर रही हैं—

परितस्तद्बहिरपि चापरास्तद्बहिरपि चापराः।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इनसे बाहर चतुर्थ मण्डलमें धेनु-समूह है एवं इन गायोंको परिवेष्टित करते हुए, पाँचवें मण्डलमें महाशौर्यशाली, विविध-अस्त्रधारी गोपगण अवस्थित हैं—

तद्बहिरपि धेनवः सविधे नवः स विविधास्त्रधारिगणो यासाम्।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पहले श्रीकृष्णविरहका तीव्र ताप एवं पश्चात् श्रीकृष्णमिलनका महान् आनन्द—व्रजवासियोंके लिये आजका दिन विचित्र-सा बीता था। इस प्रकार क्षुधा-तृषाकी निवृत्तिके लिये दिनमें तो अवकाश ही कहाँ था आज! व्रजपुरसे सायंकाल विभिन्न भोज्यवस्तुएँ भी आयीं अवश्य, पर तब भी किसीने उस ओर देखातक नहीं; सभीकी आँखें लगी थीं नीलसुन्दरको निहारनेमें ही। और तो क्या, व्रजेन्द्रगेहिनीने अपने नीलमणिको क्षुधित अनुभव कर लेनेपर भी आज गायोंका दूध भी दुहकर उन्हें नहीं पिलाया; क्योंकि

वे अत्यधिक शङ्कित हो चुकी हैं, उन्हें ऐसा लग रहा है कि यहाँकी सभी वस्तुएँ विषसे दूषित हो गयी हैं—

हन्त! हन्त! क्षुद्वन्तं तमपि गवां दुग्धमपि दुग्धं विधाय न पाययामास। सत्यं सर्वमत्रत्यं विषसकलङ्कमिति शङ्कया।

(श्रीगोपालचम्पूः)

इस प्रकार क्षुधा-तृषा एवं परिश्रमसे कर्षित हुए वे व्रजपुरवासी, वे गायें—सभी कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहसे कुछ दूर हटकर सुखकी नींदमें सो चुके हैं, अपनी भाव-समाधिमें लीन हैं—

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २०)

तेहि निसि सकल रहे तेहि ठामा।
छुधा तृषा श्रम करषित घामा॥
सोए सकल गोप अरु गोपी।
कृष्न-चरन तन-मन जिन रोपी॥

किंतु वह देखो, अर्धनिशा हुई और वह आ पहुँचा महामायावी दानव दावानलका दल। तथा क्षण भी न लगा, ग्रीष्म-ऋतुकी वह शुष्क वनस्थली एक सुन्दर माध्यम बनकर असुरको प्राप्त हो गयी और उसीकी ओटमें दावाग्निके रूपमें व्यक्त हो उठी उसकी माया। उन सम्पूर्ण व्रजपुरवासियोंको सब ओरसे घेरकर सर्वथा भस्म कर देनेके लिये महाघोर दावानल जल उठा—

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम्।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २१)

जमुना तट सुंदर अति कानन।
निद्रा बस सब ह्वै गए राजन॥
ग्रीषम तृन सूखे चहु ओरा।
ता महँ दाव लगेउ बरजोरा॥
निसि निसीथ सोवत ब्रजबासी।
घेरि चहूँ दिसि अग्नि प्रकासी॥
चाहत सबहि जराइ कैं भस्म करौं छन माहि।

× × ×

दसहुँ दिसा तैं बरत दवानल, आवत है ब्रज-जन पर धायौ।
ज्वाला उठी अकास बराबर, घात आपनी सब करि पायौ॥
बीरा लै आयौ सनमुख तैं, आदर करि नृप कंस पठायौ।
जारि करौ परलय छिन भीतर, ब्रज बपुरी केतिक कहवायौ॥
धरनि अकास भयौ परिपूरन, नैकु नहीं कहु संधि बचायौ।
सूर स्याम बलरामहिं मारन, गर्ब-सहित आतुर ह्वै आयौ॥

व्रजपुरवासी जाग उठे। उन्हें यह पता नहीं कि असुरराज कंसका ही आयोजन है यह भी! उन्होंने तो यह समझा कि दैवकी गति है, आज सचमुच दावाग्नि ही जल उठी है—

यह तौ असुर घात किए आवत, भावत बनहिं समाज।
सूरदास ब्रज-लोग कहत यह उठ्यौ दवानल आज॥

एक तुमुल कोलाहल आरम्भ हुआ, प्राण-रक्षाकी आशा नहीं। कदाचित् रविनन्दिनीकी शीतल धाराके पासतक पहुँचा जा सके। पर वह भी सम्भव नहीं, चारों ओर ही आगकी भीषण लपटें उठ रही हैं—

आइ गई दव अतिहिं निकटहीं।
यह जानत, अब ब्रज न बाँचिहै, कहत चलौ जल-तटहीं॥
करि बिचारि उठि चलन चहत हैं, जो देखैं चहुँ पास।
चकित भए नर-नारि जहाँ-तहँ, भरि-भरि लेत उसास॥
झरझरानि, भहरानि लपट अति, देखियत नहीं उबार।
देखत सूर अग्नि अधिकानी, नभ लौं पहुँची झार॥

कितना भयंकर दृश्य है!—

बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस, जरि,
उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि,
फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ॥
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि,
उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात, भहरात झहरात
अररात तरु महा, धरनी गिरायौ॥

इसी समय अचानक सबकी मनोवृत्ति एक अद्भुत-सी प्रेरणा पाकर इस भावनासे भावित हो उठी—

'अहा! हमारे प्राणसंकटके समय इसी बालक नन्दनन्दनमें ही तो प्रभु नारायण आविष्ट हो जाते हैं! क्यों न हों, यह उनकी कृपासे ही हमलोगोंके यहाँ उत्पन्न जो हुआ है! आवेशका समुचित पात्र है यह! तथा इस प्रकार इसमें आविष्ट होकर वे हमारी रक्षा करते हैं! बस, बस, अब इस समय भी श्रीनारायणदेवके द्वारा आविष्ट हुए इस बालक श्रीकृष्णमें ही हमलोग नारायणकी भावना कर लें। इसीको नारायणरूप मानकर दावाग्निकी विपत्तिसे पार पहुँचनेके लिये इसीकी शरण ले लें! और यह अग्रज भी तो आज ही अपनी सर्वज्ञताका परिचय दे चुका है; अतएव यह कृष्णभ्राता राम भी देवाविष्ट है, ऐसा अनुमान हो रहा है!'—

अहो अस्माकं प्राणसंकटसमयेऽस्मिन्नेव बालके स्वप्रसादोद्भूते नारायण आविश्यास्मान् पालयति × × × × तमिमं सम्प्रति श्रीनारायणाविष्टं कृष्णमेव नारायणत्वेन विश्रभ्य विपत्तरणार्थं शरणं याम इति विमृश्य × × × × तस्यापि तर्हिने सर्वज्ञत्वदर्शनादयमपि कृष्णभ्राता देवाविष्ट इत्यनुमानात्।

(श्रीसारार्थदर्शिनी)

फिर तो सर्वथा यन्त्र-प्रेरित-से हुए सभी व्रजवासी पुकार उठे—

कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः॥
सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्तुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २३-२४)

'हे कृष्ण! हे महाभाग श्रीकृष्ण! हे अमित बलशाली बलदेव! तुम्हारे आत्मीयजन हम सबोंको यह महाघोर दावाग्नि निश्चितरूपसे ग्रास बनाने जा रही है! हे सर्वसामर्थ्यशालिन्! इस सुदुस्तर कालाग्निसे हम सब अपने आत्मीयजनोंकी, सुहृदसमुदायकी रक्षा करो। सर्वथा भयरहित तुम्हारे श्रीचरणोंको क्षणभरके लिये भी छोड़नेमें हम सभी असमर्थ हैं, देव!'

माया मानुष रूप, भए तासु की सरन सब।
बोले बचन अनूप, कृष्न कृष्न करुनानिधे॥
हे बलदेव नाथ बल-रासी।
घोर कृसानु लागि चहुँ पासी॥
हम तव किंकर, ग्रसै कृसानू।
पाहि पाहि हे श्रीभगवानू॥
पावक काल रूप अति घोरा।
राखि ताहि तैं तू प्रभु मोरा॥
तव चरनारबिंद छन एकू।
तजि न सकैं, यह अहै बिबेकू॥
तव पद अभय सदा, जदुनंदा!
तासु बियोग छनक दुख-दंदा॥

व्रजराज भी अपने पुत्रमें आविष्ट हुए नारायणदेवकी कृपा-याचना करने चले अवश्य; पर उनकी भाषा सर्वथा बदल गयी, स्वर बदल गया, भाव भी कुछ-के-कुछ हो गये। गद्गद कण्ठसे वे इतना ही कह सके—

शङ्कामहे न मृत्योश्च न च कृच्छ्रप्रवाहतः।
किंतु त्वन्मुखचन्द्रांशुदर्शनाभाववैशसात्॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'आह! मृत्युसे डर नहीं; विपत्तियोंका प्रवाह चलता रहे, इससे भी भय नहीं। पर तुम्हारे मुखचन्द्रकी किरणोंके दर्शनका अभाव हो जाय—इस यन्त्रणाका ही भय है!'

तथा व्रजरानी तो नारायणकी भावना करनेसे रहीं। छलछलाती आँखोंसे वे राम-श्यामकी ओर देखती हुई इस चिन्तामें डूबी हैं—

जेंवन करन चली जब भीतर, छींक परी ती आजु सबारे।
ताकौ फल तुरतहिं इक पायौ, सो उबरयौ, भयौ धर्म सहारे॥
अब सब कौ संहार होत है, छींक किए ये काज बिचारे।
कैसैहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे॥

अब नींद खुली व्रजेन्द्रनन्दनकी और वे तत्क्षण उठ बैठे। उस समय आलस्यभरे श्रीअङ्गोंकी शोभा देखते ही बनती है—

सुनत जगे, अति नीके लगे।
आलस पगे, उठे रँगमगे॥
करन नैन मींजत छबि पावत।
रुठे कमल मनु कमल मनावत॥

अस्तु, नीलसुन्दरने अपनी जननीकी ओर देखा; उनकी सजल आँखें अपने लालके सलोने दृगोंमें प्रतिबिम्बित हो गयीं, जननीकी अन्तर्व्यथाका असह्य भार भी पुत्रके अन्तस्तलपर ज्यों-का-त्यों सरक आया। फिर क्या था, श्रीकृष्णचन्द्रके नयन-सरोजोंमें एक कम्पन हुआ, होठ भी किंचित् हिल-से गये और जैसे फूँक लगनेसे एक तुच्छ दीप बुझ जाय, इस प्रकार उनके अधरोंसे निस्सृत मन्द सुरभित फूत्कारके द्वारा ही वह महाप्रचण्ड दावाग्नि तत्क्षण शान्त हो गयी—

हरेः फूत्कारमात्रेण निर्ववौ दवदीपकः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और वे व्रजवासी, जिन्होंने नीलसुन्दरमें श्रीनारायणदेवके आविष्ट होनेकी भावनासे नारायणके द्वारा अपनी रक्षा चाही थी, उन्हें ऐसा लगा कि सदाकी भाँति इस बार भी उन श्रीनारायणने हमारी व्याकुल पुकार सुन ही ली, हमारे प्राणसर्वस्व इस नन्दपुत्रमें आविष्ट हो गये वे जगदीश्वर तथा यह लो! वे अनन्त-शक्तिशाली, अनन्तस्वरूपैश्वर्यनिकेतन प्रभु उस दावाग्निको पी गये।

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥

(श्रीमद्भा० १०। १७। २५)

मम आश्रित किमि घटै कलेसू।
दावानल किय पान नरेसू॥
जगत-ईस प्रभु सक्ति अनंता।
कृष्न देव प्रभु श्रीभगवंता॥

× × ×

लखौ अब नैन भरि, बुझि गई अगिनि-झरि, चितै नरनारि आनंद भारी।
सूर-प्रभु सुख दियौ, दावानल पी लियौ, कहत सब ग्वाल, धनि-धनि मुरारी॥

इतना ही नहीं, नीलसुन्दरकी एक दृष्टि उन दग्ध द्रुमवल्लरियोंपर भी पड़ी और वे सभी वैसे-के-वैसे अमित-सुषमाशाली बन गये—

जे द्रुमलता दवानल जरे। अमी-दृष्टि करि तैसेइ करे॥

विस्मयसे भरे व्रजेश तो भ्रमित होने लगे। वे बोले—

किमस्माभिः प्रमत्तैरिवापलपितं कुतो वनाग्निरिति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे! क्या हम सब प्रमत्तकी भाँति इस प्रकार व्यर्थका बकवाद कर रहे थे? कहाँ है वह दावानल?'

इस प्रकार मथुराधिपति कंसकी यह योजना भी विफल बन गयी। व्रजपुरवासियोंपर आया हुआ यह महाभय दरिद्रके मनोरथकी भाँति, स्वप्नकी भाँति विलीन हो गया। उन्हें सचमुच कहाँ किससे भय है?

जाकैं सदा सहाइ कन्हाई।
ताहि कहाँ काकौ डर, भाई॥
बन-घर जहाँ-तहाँ सँग डोलै।
खेलत-खात सबनि सौं बोलै॥
जाकौं ध्यान न पावैं जोगी।
सो ब्रज मैं माखन कौ भोगी॥
जाकी माया त्रिभुवन छावै।
सो जसुमति कें प्रेम बँधावै॥
मुनि-जन जाकौं ध्यान न पावैं।
ब्रज-जन लै-लै नाम बुलावैं॥
सूर ताहि सुर अंबार देखैं।
जीवन-जन्म सुफल करि लेखैं॥

धेनुकासुर-वध

प्रतिदिन गोचारणके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें प्रविष्ट होते थे सायंकाल। किंतु आज वे आ रहे हैं उस समय, जब कि किरणमाली पूर्व क्षितिजकी ओटसे झाँकने लगे हैं। कालियदमनका वह दिन, दावानल-शमनकी वह निशा व्यतीत हो जानेपर व्रजेश्वरने अपने आवासकी ओर प्रस्थान किया तथा गो-गोप-गोपियोंसे परिवृत होकर नीलसुन्दर गोष्ठमें पधारे—

सुख कियौ जमुन-तट एक दिन-रैनि बसि,
प्रातहीं ब्रज गईं गोप-नारी।
सूर-प्रभु स्याम-बलराम नँद-धाम गए,
मातु-पितु घोष-जननी-सुखकारी॥

× × ×

जगत-ईस प्रभु मुक्ति अनंता।
कृष्नदेव प्रभु श्रीभगवंता॥
पुनि निज बंधु सहित जदुनाथा।
प्रबिसे ब्रज हरषित एक साथा॥
गोपी मुदित गान कल बानी।
सुनत गेह पहुँचे सुखदानी॥

एक बार यह प्रयास अवश्य किया गया कि गायें वनमें ही रह जायँ, उनके संचारणका समय तो प्रायः हो ही चुका है। पर वे पशु—भले ही वाणीके द्वारा अपने हृदयकी भावना व्यक्त न कर सकें—शरीरसे तो किसी अंशमें स्वतन्त्र हैं ही। वश चलते वे श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें कैसे रह जायँगे? गोपरक्षकोंकी वह चेष्टा सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुई। सबने स्पष्ट अनुभव कर लिया कि मनुष्योंकी भाँति ही ये पशु भी इस समय व्रजमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर वनमें नहीं रह सकते—

मनुष्या इव पशवोऽपि तं व्रजं प्रविशन्तं त्यक्तुं नाशक्नुवन्निति। (वैष्णवतोषिणी)

अस्तु, आज गोचारण स्थगित रहा। श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहारिणी क्रीडाएँ नन्द-प्राङ्गणमें, नन्दोद्यानमें एवं व्रजकी वीथियोंमें ही हुईं। वनमें होनेवाले विविध कौतुकोंकी एक झाँकी पाकर पुरसुन्दरियोंने अपने नेत्र शीतल किये। और आठ पहरमें ही अतीत दिवसकी सारी घटनावली उनके स्मृतिपथसे इतनी दूर चली गयी, मानो कुछ हुआ ही न हो! सर्वत्र परमानन्दकी निराविल धारा प्रसरित हो रही है और उसमें अवगाहन करते हुए व्रजवासी अन्य सब कुछ भूल गये हैं; बस, स्मरण रह गया है उन्हें केवल यशोदानन्दनका। उन्हें देखते-देखते ही न जाने कब अंशुमाली अस्ताचलमें चले गये और कब रजनी भी आकर, उषाका आलिङ्गन कर विदा हो गयी—यह भी उन्होंने नहीं जाना। सभीका अनुभव है—हम तो सदा व्रजमें ही थे, व्रजमें ही हैं, नीलसुन्दरकी दैनंदिनी क्रीड़ा भी वैसे ही एकरस चल रही है। और इस समय वह देखो, वहाँ नन्दप्राङ्गणमें गो-चारणके लिये वन जानेसे पूर्व व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको कलेवा करा रही हैं, नीलमणि भी अन्यान्य खाद्य-सामग्रियोंको किञ्चिन्मात्र होठोंसे स्पर्श कराकर अब केवल नवनीतका आस्वाद ले रहे हैं। कर-किसलयपर जननीके द्वारा रखे हुए नवनीत-ग्रासको मुखमें भरकर वे पुनः अपना हस्त-कमल सामने कर देते हैं एवं मैया पुनः उसपर ग्रास सजा देती हैं—

हरि ब्रज-जन के दुख-बिसरावन।
कहाँ कंस, कब कमल मँगाए, कहाँ दवानल-दावन॥
जल कब गिरे, उरग कब नाथ्यौ, नहिं जानत ब्रज-लोग।
कहाँ बसे इक दिवस-रैनि भरि, कबहिं भयौ यह सोग॥
यह जानत हम ऐसेहिं ब्रज में, वैसेहिं करत बिहार।
सूर स्याम जननी सौं माँगत माखन बारंबार॥

इस प्रकार अबसे ग्रीष्मके अवसानतक, पुनः ग्रीष्मके आगमनतक एवं पावसकी अवधि समाप्तप्राय होनेतक श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ा निर्बाध चलती रही। व्रजमें, वृन्दाकाननमें—कहीं भी राक्षसोंके द्वारा कोई उत्पात न हुआ। हाँ, इसी वर्षा-ऋतुके अन्तमें एक

दिन जब मेघ पर्याप्त रूपसे बरस चुके थे, विविध वनक्रीडाओंसे श्रान्त होकर श्रीकृष्णचन्द्र एक वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे, गायें समीप ही तृण चर रही थीं—गोपशिशुओंने अग्रज बलराम एवं नीलसुन्दरके समीप एक नवीन प्रस्ताव रखा। बलराम एवं श्यामके प्रधान सखा श्रीदाम गोपने तथा सुबल एवं स्तोककृष्ण आदिने हँस-हँसकर, अतिशय प्रेमके सहित समीप आकर अपना मनोभाव बताया—

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २०)

श्रीदामा एक सखा सयानौ।
सुबल आदि प्रिय अपर सुजानौ॥
बोले बचन बिहँसि सुख मानी।
कृपासिंधु सौं अति सनमानी॥

बालकोंके स्वरमें अद्भुत उत्साह है, पूर्ण आशा भरी है कि उनकी वह योजना उनके बलराम, उनका कन्हू—दोनोंके द्वारा स्वीकृत होकर ही रहेगी और वे अविराम कहते चले जा रहे हैं—'भैया राम, कितना सुख तुम हम सबको देते हो! और ओह! कितना बल है तुम्हारी इन भुजाओंमें। तथा भैया रे श्रीकृष्ण! तुम्हारा तो स्वभाव ही है दुष्टोंका दमन करते रहना। इसीलिये आज एक बात बताता हूँ, तुम दोनों सुन लो। देखो, यहाँसे कुछ ही दूरपर तालवन नामक एक सुविस्तृत वन है, हो! और क्या कहें, उसमें न जाने ताल-वृक्षोंकी कितनी पंक्तियाँ सुशोभित हैं। इतना ही नहीं, तालके पके फल वहाँ गिरते ही रहते हैं, पहलेसे गिरे हुए भी अगणित फल वहाँ पड़े रहते हैं। किंतु यह सब होकर भी क्या हुआ! वहाँ तो एक अत्यन्त हिंस्र-स्वभावका दैत्य रहता है। धेनुक उसका नाम है। उसी दुष्टने सम्पूर्ण फलोंपर ही अपना अधिकार जमा रखा है। बलराम भैया! और प्राणसखा श्रीकृष्ण! सुनो, वह असुर गधेका रूप धारण किये रहता है। महाबलशाली है वह, और उसके साथ ही उसीके समान पराक्रमशाली उसके अन्य असंख्य भाई-बन्धु भी निवास करते हैं। हमारे शत्रुनाशक भैयाओ! मनुष्योंको तो मारकर वह खा जाता है। उस नर-मांसभक्षी राक्षसके भयसे मनुष्य, पशु-पक्षी—सबने ही उस वनको छोड़ दिया; कोई भी वहाँ नहीं जाता, तालफलोंका लाभ नहीं ले पाता; जब कि ऐसे सुस्वादु एवं सद्गन्धयुक्त फल आजतक किसीने खाये ही नहीं! बस, स्वयं अभी प्रत्यक्ष अनुभव कर लो—उन फलोंकी मनोहर सुगन्ध सर्वत्र फैल रही है, हम सभीको यहींसे उसकी स्पष्ट गन्ध मिल जो रही है। भैया रे श्रीकृष्ण! इस गन्धसे तो हम सबोंका मन ही लुब्ध हो गया; हमें तुम तालफल अवश्य खिला दो! दाऊ दादा! हमारी प्रबल इच्छा है इन फलोंको पा लेनेकी, भोजन करनेकी! बस, अब देर न करो। यदि हमारा प्रस्ताव तुम्हें रुचिकर लगे तो वहाँ अवश्य चलो, दादा!'

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसंकुलम्॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन्।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसंघैर्विवर्जितम्॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम्।
बाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २१—२६)

राम राम हे यदुकुल भूषन।
अहो कृष्न अघ-दनुज-बिदूषन॥
इत तैं निकट ताल-बन सुंदर।
सघन सुहावन फल सुख-मंदिर॥
गिरे-गिरत फल पक्क सुहावन।
छिति छपि रही, अमिय सम पावन॥

है परंतु धेनुक अति घोरा।
रोक्यौ तिन सब फल चहु ओरा॥
अति बिसाल, बल काल समाना।
खर-सरूप तन कुलिस प्रमाना॥
ताहि सरिस बल अपर बहु, ग्याति तासु अति घोर।
नर-अहार संतत करैं, कुमती कठिन कठोर॥
तेहि भय भीत मनुज नहिं जाहीं।
पसु-पंछी नहिं निकट रहाहीं॥
फल अभुक्त-पूरब जदुनंदा।
अति सौरभ फल हैं सुख-कंदा॥
अनिल संग यह सुरभि अनूपा।
मन कहँ खैंचि लेइ सुखरूपा॥
मन लोभित फल चाह बिसेषी।
दीजिय नाथ कृपा हिय पेखी॥
हे बलदेव! चाह चित भूरी।
चलिय, नाथ! कीजै रुचि पूरी॥
जो इच्छा प्रभु! होइ तुम्हारी।
चलहु, नाथ! तौ जन सुखकारी॥
× × ×
भारी भूख लगी है, चलौ। भैया, बहुत मानिहैं भलौ॥

गोपशिशुओंका यह निवेदन पूर्ण होते-न-होते राम-श्याम दोनों भाई उठकर खड़े हो गये। उनके नित्य-प्रफुल्ल वदनारविन्दपर एक अभिनव उल्लासकी लहर-सी बह चली। दोनों ही हँसे और उनके उस उन्मुक्त हास्यसे समस्त अरण्यप्रान्त गूँज उठा। फिर बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण एवं बलराम तत्क्षण उन अपने सुहृद् बन्धुओंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तालवनकी ओर चल ही तो पड़े। हँसते हुए वे असंख्य बालक भी उनके साथ चले जा रहे हैं। देखते-देखते ही तालवनकी सीमा भी आ पहुँची। यह लो, यह रही तालवनकी समतल, स्निग्ध सुविस्तीर्ण कृष्णवर्ण मृत्तिकामयी भूमि! वे खड़े हैं तालके उत्तुङ्ग वृक्ष! बस, बलराम तो दौड़ पड़े। किसीके पहुँचनेसे पूर्व ही रोहिणीनन्दनने वहाँ जाकर तालवृक्षोंको अपनी भुजाओंमें भर लिया और एक करिशावक मानो कदली वृक्षोंको प्रकम्पित कर रहा हो—इस प्रकार उन्हें बड़े वेगसे हिलाकर क्षणोंमें ही राशि-राशि फल भूमिपर गिरा दिये—

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २७-२८)

सुनतहिं चले सु लागत भले।
ऐसैं दुष्ट किते दलमले॥
आगैं भए बिहँसि बलराम।
पाछैं करि लए मोहन स्याम॥
× × ×
बिहँसत हरि सँग चले गुवाला।
नाचत-गावत गुन गोपाला॥
× × ×
गए ताल-बन राजत दोऊ।
मत्त गयंद सरिस सुठि सोऊ॥
गहन जाइ बल कर गहि ताला।
दियउ हलाइ गिरे फल-जाला॥
× × ×
सो सुनि कै जुग बंधु चले मिलि संग सखा जु प्रमोद भरे रस।
सुंदर रम्य अरन्य लख्यौ, बन पैंठत अग्रज अग्र भये हँस॥
मंजुल पक्व फरे फल-पुंजन, गुंजन भौंर, प्रसून भरे तहँ।
राम कँपावत बच्छ-समूह, झरे फल-फूल, ढरे छिति पै जहँ॥
झरत सुमन-फल, गिरत तहँ, बिथुरत बिपुल रसाल।
भरत गोद हरबर धरत करत कुलाहल बाल॥

समीपमें ही अवस्थित धेनुकके कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ इतने ताल-फलोंके गिरनेका घनघोर शब्द प्रविष्ट हो गया। तुरंत ही उसने अपनी हिंस्र आँखें फिराकर इस ओर देखा और दीख पड़े राम-श्याम तथा आनन्द-कोलाहल करते हुए असंख्य गोपशिशु! अब तो धेनुकके रोषका क्या कहना है! उसके विशाल पर्वताकार गर्दभ-शरीरका रोम-रोम क्रोधसे जल उठा। द्रुतगतिसे वह चल पड़ा उसी ओर, जहाँ बलराम तालके समीप खड़े

हँस रहे हैं। उसे आनेमें भी कितनी देर लगती। जिस वेगसे वह चला है, उससे—उसके पदभारसे पर्वतके सहित सम्पूर्ण पृथ्वीतल प्रकम्पित जो हो रहा है। बस, आधे क्षणसे पूर्व ही मानो एक प्रकाण्ड पर्वत ही उड़ता-सा आया हो—इस प्रकार वह बलरामके पास आ पहुँचा। और आकर तनिक रुके—यह बात भी नहीं, उस महाबलवान् क्रूरस्वभाव दैत्यने अपना मुँह फिराया तथा पीछेके दोनों पैरोंको उठाकर एक भरपूर दुलत्ती रोहिणीनन्दनके वक्षःस्थलपर उसने मार ही तो दी। साथ ही यह प्रहार कर चुकनेपर अत्यन्त कर्कश स्वरमें वह रेंक उठा और रेंकता हुआ ही चारों ओर घूमने लगा। दूसरी दुलत्तीके प्रहारकी ताकमें धेनुकने दुष्टताकी सीमा पार कर ली!—

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः।
अभ्यधावत क्षितितलं सनगं परिकम्पयन्॥
समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। २९-३०)

फल कें गिरत सोर चहुँ ओरा।
धायौ अकनि असुर खल घोरा॥
चलेउ रोष भरि, छोभ करि, गिरि सम काय बिसाल।
कंपित छिति गिरि-द्रुम सहित अतिसै क्रूर कराल॥
आइ तुरित जहँ हलधर ठाढ़े।
जुगुल पाय उर में हनि गाढ़े॥
करि खर नाद मूढ़ सठ घोरा।
भ्रमत भयौ बल के चहुँ ओरा॥

× × ×

सोर सुनत अति जोर भरौ धेनुक धरि धायव।
रासभ रूप उमंडि मंडि रन सनमुख आयव॥
फल लखि बड्ढिव रोस, घोस घन रोस सुबोलत।
धमकत धरनि धधाय, भूमि भूधर सब डोलत॥
करि श्रवन-पुच्छ उन्नत, तजतु घ्रान-रंध्र स्वाँसानि सुर।
लखि महाबली बलभद्र कहँ पिछले पग घालत असुर॥

किंतु बलराम तो अभी भी वैसे ही हँस रहे हैं। अवश्य ही गर्दभरूपधारी असुर पुनः आ पहुँचा है उनके अत्यन्त निकटमें ही और क्रोधसे सर्वथा अधीर हो रहा है वह! पुनः उसने उनकी ओर पीठ कर ली और फिर अत्यन्त क्रोधसे पिछले पैरोंकी दुलत्ती भी चला ही दी। पर इस बार अपने वक्षःस्थलपर उसके पैर आनेसे पूर्व ही रामने अपना वामहस्त आगे बढ़ा दिया; बढ़ाकर उसके पैरके अग्रभागको पकड़ लिया। धेनुककी कोई अन्य चेष्टा तो अब होनेसे रही; क्योंकि राम उसे आकाशमें उठाकर अलात-चक्रकी भाँति बारम्बार घुमा रहे थे और वह विवश घूम रहा था। बस, कुछ ही क्षण घूमनेमें उसके प्राण भी घूमकर बाहर निकल आये तथा उसके जीवनशून्य शरीरको रामने तालवृक्षपर फेंक दिया—

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा॥
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ३१-३२)

पुनि करि क्रोध निकट चलि आवा।
बल सनमुख निज बल देखरावा॥
पिछले जुग पद जोरि गँवारा।
पुनि बल-उर कहुँ करेउ प्रहारा॥
आवत चरन देख बल जबहीं।
पकरि लियौ पग जुग कर तबहीं॥
एक पानि गहि, ताहि घुमाई।
पटकि ताल तरु पै सुख पाई॥
भ्रमतहिं प्रान गयौ चलि तासू।
मर्‌यौ अधी अपनें अघ आसू॥

× × ×

बल-उद्धत बलराम महाबल झपटि धर्‌यौ झुकि असुर कठोर।
कर पर हरबर फेरि फिरावत, उलछारत, झारत झकझोर॥
तरबर-मूल भूमि गहि पटक्यौ, झटक्यौ चट-चट-फटक्यौ फेरि।
झहरत प्रभु, हहरति बसुधा, तहँ भभरि भगे मृग-गन तेहि बेरि॥

उस मृतदेहके प्रबल आघातसे तालका वह उत्तुङ्ग एवं अत्यन्त सुपुष्ट वृक्ष तड़-तड़कर, चूर्ण-विचूर्ण होकर गिर पड़ा। केवल वह गिरा, इतना ही

नहीं, उसने अपने पार्श्ववर्ती सटे वृक्षको भी प्रकम्पित कर तोड़ डाला। पुनः उसने तीसरेको, तीसरेने चौथे पार्श्ववर्ती तालको—इस प्रकार एक-दूसरेको धराशायी करते हुए न जाने कितने तालवृक्ष टूटकर खण्ड-खण्ड हो गये। रोहिणीनन्दनकी तो यह एक क्रीड़ा हुई, एक साधारण-सा खेल खेलते हुए ही रामने उस मृत देहको फेंका था। किंतु वह आघात इतना भीषण था कि उस वनके समस्त तालवृक्ष ही प्रकम्पित हो उठे—मानो किसी अत्यन्त प्रबल झंझावातके वेगसे वे विताड़ित हो गये हों—

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३३-३४)

एहि बिधि नृप! धेनुक बल मार्यौ।
गिर्यौ तार लै बहु छिति डार्यौ।
तार ताल फल गिरे अनेका।
को गनि सक अस काहि बिबेका॥
× × ×
परे जु ताल बिसाल सु ऐसैं।
प्रबल पवनके मारे जैसैं॥

श्रीबलरामके आघातसे ऐसा हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है। इन्हीं सर्वैश्वर्यनिकेतन अनन्त जगन्नियन्तामें ही तो यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत् सूत्रमें वस्त्रकी भाँति ओतप्रोत है। क्या महत्त्व बढ़ता है उनका इन तुच्छातितुच्छ घटनाओंको घटित कर देनेसे?

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३५)

जो हो, इस सम्बन्धमें कुछ क्रीड़ा अवशिष्ट रही थी, वह भी पूरी हो गयी। धेनुकके बन्धु-बान्धव अपने स्वजनका यह आकस्मिक प्राणनाश देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे; प्रतिहिंसाकी आगमें जलते हुए वे राम-श्यामकी ओर अग्रसर हुए। गधोंका दल एकत्र हो गया। फिर तो अग्रज एवं नीलसुन्दरको भी कौतुक करना ही था। खेल आरम्भ हुआ। खेलते हुए दोनों भाई जो भी समीप आता, उसकी पिछली टाँगें पकड़कर तालवृक्षपर दे मारते अथवा अन्य कौतुक करते हुए उनका कचूमर निकाल देते। देखते-देखते वहाँकी सम्पूर्ण भूमि तालफलोंसे, भग्न तालवृक्षोंके अग्रभागसे एवं दैत्योंके मृतदेहोंसे पट गयी। क्षितितलने एक विचित्र-सी शोभा धारण कर ली—वैसी शोभा जो विविध वर्णोंके मेघसे आवृत होनेपर आकाशकी हो जाती है!—

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु॥
फलप्रकरसंकीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ३६—३८)

राम-स्याम प्रभु लीला बाढ़े, सठ मारे इक भुजा उखार।
तोरत सीस, सीस सौं फोरत, ढोरत धर धरनी के भार॥
इक पग पकरि उच्च गहि पटकत छी मुरकत खल अमर-अगार।
जिमि घन सघन गगन महँ छाए, भ्रमत धयानक इमि अनुहार॥
× × ×
परे बिसाल ताल इमि मही।
बिच-बिच गर्दभ परत न कही॥
ज्यौं रबि अस्त होत आडंबर।
कारे-पियरे बादर अंबर॥

अब अन्तरिक्षसे देवगण कुसुमोंकी वर्षा करने लगते हैं। साथ ही उनके 'जय-जय' घोषसे कानन प्रतिनादित हो उठता है—

हरखत हिय बरखत कुसुमावलि बृंदारक के बृंद अपार।
जय-जय धुनि जन करत गगन मन अतुल-पराक्रम प्रभुहि निहार॥

JS6

बलराम-श्रीकृष्णका किशोरावस्थामें प्रवेश

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रके उन त्रैलोक्यसुन्दर श्रीअङ्गोंपर पौगण्डका साम्राज्य था, उनकी समस्त भाव-भङ्गिमाएँ उसकी छाप लेकर ही व्यक्त होतीं; किंतु उस पौगण्डकी भी सीमित अवधि थी। उसने सोचा—'जब मैं आया था, तब उन श्यामल अङ्गोंपर कौमारका शासन था। अनेक क्रीडाओंकी ओटमें स्थित होकर मैंने क्रमशः उसे यहाँसे निस्सारित किया, शासनसूत्र अपने हाथमें लिया; क्योंकि कौमार इन मनोहर अवयवोंमें अपेक्षित विकास नहीं कर पा रहा था। हाँ, मेरी अपेक्षा भी अधिक योग्यता 'कैशोर' में अवश्य है और वह द्वारपर अपना अधिकार सँभालने आ भी पहुँचा है। मैं इसके लिये कोई त्याग कर रहा हूँ, यह बात नहीं; यह तो अवश्यम्भावी घटना है; निर्धारित समयपर ही वह आया है। एक तो वह उपयुक्त पात्र है, फिर अपने-आप आकर उपस्थित हो गया है। इतना ही नहीं—यह लो, उसके आते ही, उसकी छाया पड़ते ही नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंपर कितना सुन्दर विकास परिलक्षित होने लगा है! अहा! कर्तव्यका कितना गम्भीर ज्ञान है इसे। अपने अस्तित्वकी चरम कृतार्थता व्रजेन्द्र-नन्दनके श्रीअङ्ग-स्पर्शसे ही हो सकती है—यह विवेक इसमें है, तभी तो यह आया और ठीक अवसरपर आया तथा आते ही इसने अपनी योग्यताका परिचय भी दे दिया, आवासकी व्यवस्था सँभाल ली, अभी-अभी देखते-देखते इसने कैसा सुन्दर विस्तार कर लिया।' बस, यह विचार आते ही पौगण्डने अपने समस्त वैभव, श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंपर प्राप्त हुए अपने सम्पूर्ण अधिकार कैशोरको समर्पित कर दिये और अलक्षित रूपसे ही वह स्वयं अन्तर्हित हो गया—

राज्यं सम्यगुपेत्य कृष्णवपुषि त्रैलोक्यलक्ष्मीमये
क्रीडाभिर्लघु निर्गमय्य समया नौदार्य्यपर्य्याकुलम्।
पात्राय स्वयमागताय गुणितावासाय सद्वेदिने
कैशोराय निजं प्रदाय विषयं पौगण्डमन्तर्दधे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

फिर तो कैशोरने अपने ढंगसे सब कुछ पूरा-का-पूरा सजाया—नीलसुन्दरके मुखसरोजका सर्वांश विकसित हो उठा, एक अभिनव कान्ति प्रसरित होने लगी। दृगोंमें मनोहर दीर्घता दीख पड़ी और वे नयन-सरोरुह अरुणप्रभासे रञ्जित होने लगे। वक्षःस्थल ऊँचा हुआ, सुन्दर विस्तार भी हो गया उसका। मध्यदेशमें परम रमणीय कृशता परिलक्षित होने लगी। इस प्रकार एक अद्भुत अनिर्वचनीय सौन्दर्यसिन्धुका निर्माण कर दिया कैशोरने। तथा जैसे ही उसमें पहली ऊर्मि उठी कि समस्त व्रजपुर प्लावित हो उठा, स्थावर-जंगम सबके नेत्र भर गये इस सौन्दर्यपूरसे सबकी आँखें आकर्षित होकर बरबस बह चलीं उस प्रवाहमें और जाकर आखिर डूब ही गयीं नीलसुन्दरके श्रीअङ्गके समीप उठती हुई उन श्यामल लहरोंमें!—

मुखे पूर्तिः कान्तिर्नयनयुगले दैर्घ्यमरुण-
प्रभा ह्यद्युच्छायः प्रततिरपि मध्ये तु कृशता।
इतीदं सौन्दर्यं यदवधि मनागप्यधिजगे
जगन्नेत्रश्रेणी तदवधि हरौ तेन चकृषे॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

कदाचित् किसीकी आँखें कुछ क्षणोंके लिये बाहर उतराने लगतीं तो उस समय उसके प्राण इस प्रकार झंकार करने लगते—'अहा! कैसी शोभा है नीलसुन्दरकी! मानो वसन्तके दिन हों, नव-तमाल-तरुकी शाखाओंमें, शाखाकी प्रत्येक ग्रन्थिमें विविध वर्णमयी नवाङ्कुरश्रेणी फूट पड़ी हो; इन नवाङ्कुरोंसे श्याम-तमालका सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा हो। पर यह शोभा भी सर्वथा तिरस्कृत जो हो रही है नीलसुन्दरके रोम-रोमसे प्रस्फुटित हुए सौन्दर्य-स्रोतकी तुलनामें!'

अधिमधुदिनमनुपर्वकबुंरितनवाङ्कुरकन्दलदल-
द्रामणीयकनवतमालकडम्बबिडम्बकम्॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देखो तो सही, अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका आनन्दसूचक यह उच्छलित कैशोरभाव अपनी समस्त मधुरिमा उँड़ेलने जा रहा है और व्रजेन्द्रनन्दनके श्रीअङ्ग भी उस माधुर्यभारको वहन करनेमें सर्वथा समर्थ दीख रहे हैं। अहा! पौगण्डके अन्तरालमें ही सहसा व्यक्त हुए

कैशोरकी कैसी शोभा है! मानो कुसुम अपने हृदेशमें प्रतिक्षण सृष्ट होते हुए मकरन्द एवं परागका उपहार एकत्रकर मधुकरका प्रीतिभाजन बनने जा रहा हो; अभिनव मुकुलके रूपमें, मुकुलकी कान्ति धारण किये अवस्थित हो।'

प्रत्यङ्गरङ्गितरङ्गितविशेषमाधुरीधुरीणमन्तरुत्पद्यमान-मधुपरागमधुपरागभागभिनवकुड्मलीभावभावहितं कुसुममिव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहा! नीलसुन्दर मानो श्याम लता नामकी लताका वह एक अनिर्वचनीय सुन्दर फल हों, जो अभी परिपक्व तो नहीं हो, फिर भी कसैलेपनसे रहित हो जाय, मृदुता धारण कर ले, मधुर—सुस्वादु रससे पूरित हो जाय, सबकी एकमात्र लोभनीय वस्तु बन जाय!'

अपाकनिष्कषायमृदुमधुरलुलितं श्यामलतालताया: किमपि फलमिव।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार भावावेशमें उन व्रजवासियोंके प्राण न जाने क्या-क्या अनुभव करने लगते। विशेषत: उन व्रजवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी क्या दशा हुई, इसे तो एकमात्र वे ही जानती हैं।

प्रतिदिन—जब भुवनभास्कर प्राचीको रञ्जित करने लगते—नीलसुन्दर वंशीके छिद्रोंमें स्वर भरते हुए गोचारणके लिये वनमें पधारते। उस समय एक विचित्र-सी दशामें अवस्थित हुई वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ निर्निमेष दृष्टिसे उनकी ओर देखती रहतीं। क्रमश: नीलसुन्दर उनकी दृष्टिसे ओझल हो जाते। इसके कितनी देर पश्चात् उन्हें बाह्य ज्ञान होता, यह कहना कठिन है। तथा जब उन्हें अपने शरीरका भान होता, तब ऐसी प्रतीति होती कि प्राणोंमें एक वेदना-सी हो रही है, प्राण कुछ चाह रहे हैं! पर वे क्या चाहते हैं, यह वे स्वयं निर्णय नहीं कर पातीं। श्रीकृष्णचन्द्रके मुखसरोजको वे नहीं देख पा रही हैं, वे वनमें पधारे हुए हैं, संध्याके समय लौटेंगे; किंतु उनके इस स्वल्प अदर्शनके समय अन्तस्तल सर्वथा सूना-सा क्यों लगता है, इसे वे समझ नहीं पातीं। पहले ऐसा नहीं होता था, श्रीकृष्णचन्द्र जब भी गोष्ठमें पधारते, वे सर्वथा संकोचशून्य मनसे उनके समीप दौड़ जातीं। पर अब उनके निकट जानेमें एक विचित्र-सी हिचकका बोध क्यों होता है जब कि उस समय भी प्राण श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये अत्यधिक मचले होते हैं—इसका कोई अर्थ उनकी कल्पनामें नहीं आता। फिर भी जैसे संध्या होती, वंशी-रव वनकी ओरसे सुनायी पड़ता, वैसे ही सब-की-सब उधर ही अत्यन्त द्रुतगतिसे चल पड़तीं, दौड़ने लग जातीं तथा दूरसे आते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी दीख ही जाते। उनकी उस समयकी शोभा भी निराली ही होती—'घुँघराली अलकें कपोलोंपर, ललाटके कुछ अंशपर झूलती रहतीं। गोखुरोंसे बिखरे हुए धूलिकण उड़-उड़कर उन अलकोंपर पड़ते रहते। कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित रहता एवं केशोंमें सुन्दर सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित होते। नेत्रोंकी मनोहर चितवन एवं अधरोंपर व्यक्त हुए मृदु स्मितकी शोभा देखते ही बनती, मानो नृत्यपरायण खञ्जनमिथुन अपनी नैसर्गिक भावनामें तन्मय हों, सद्य: प्रस्फुटित नीलसरोरुहसे सुधाविनिन्दित मधुधारा क्षरित हो रही हो! वेणुके छिद्रोंमें वे स्वर भरते रहते तथा उनके असंख्य सखा—गोपशिशु मधुमय कण्ठसे उनके ललित लीलाविहारका गान करते चलते।'—बस, इस अप्रतिम सौन्दर्यको निहारकर उन गोपवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी क्या अवस्था होती—इसे कोई कैसे बताये। आह! दो-तीन प्रहरका यह व्यवधान उनके लिये कितने युगोंके समान बन गया था, उनकी आँखें न जाने कबसे तरस रही थीं और श्रीकृष्णचन्द्र सहसा मिल गये—उस समय उन्हें कितना आह्लाद होता, उनमें क्या-क्या अनुभाव व्यक्त होते और नीलसुन्दरपर कैसी प्रतिक्रिया होती, इसे वाग्वादिनी तो कह नहीं सकतीं। हाँ, इतना-सा संकेतमात्र कर सकती हैं।

अरे! सुन सको तो सुन लो—वे गोपवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ एक साथ दौड़कर व्रजसे बाहर चली आयीं; नीलसुन्दरके मुखकमलपर उनकी दृष्टि पड़ी और फिर तत्क्षण ही उनके नेत्र मानो भ्रमरके रूपमें

परिणत हो गये। वहाँ श्रीकृष्णमुखारविन्दसे राशि-राशि मधुकी धारा प्रवाहित हो रही थी तथा वे असंख्य नेत्रभ्रमर उसी मकरन्द-रसका पान कर रहे थे। इन भौंरोंसे व्रजसुन्दरियोंके हृदय एवं प्राण संनद्ध थे ही। अतएव वह मधुधारा उसी तन्तुके सहारे झरने लग गयी उनके उत्तप्त हृदयमें भी, प्राणोंमें भी। दिनभरकी वह विरहाग्नि, जो अन्तस्तलके प्रत्येक अंशमें अलक्षितरूपसे ही धक्-धक् जल रही थी, प्रशमित हो गयी। इतना हो लेनेपर पुनः उसी संकोचका आविर्भाव हुआ। मधुकर मानो अत्यधिक मधुपानसे मत्त होकर तन्द्रित-से होने चले—इस प्रकार उनके नेत्र पुनः किञ्चित् नमित-से हो गये। उसी समय रसपूरित हृदयमें एक विशाल लहर-सी आयी। पर लज्जाने प्रायः सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये थे, सबका एक साथ वह नियन्त्रण कर रही थी; इसीलिये केवल लाजभरी पवित्र हँसी एवं अतिशय विनम्र भाव-मुद्राके रूपमें व्यक्त होकर ही वह उन्मादी प्रवाह पुनः पीछेकी ओर लौट गया। हाँ, लौटते-लौटते ही उसने अपने आवेगसे व्रजसुन्दरियोंके, गोपकुमारिकाओंके नेत्रोंको स्निग्ध एवं चञ्चल अवश्य बना दिया; साथ ही उसके उन्मादी प्रभाववश नेत्रोंकी वह चञ्चलता वङ्किम चितवनके रूपमें भी परिणत हो गयी। यों तो वे आयी थीं नीलसुन्दरका दर्शन करने; पर भावावेशवश अपने अन्तस्तलमें संचित सम्पूर्ण आदरकी भेंट भी समर्पित करने लग गयीं। कदाचित् द्वार अनावृत्त होता, लज्जा सामने खड़ी न होती तो हृदयकी ओरसे आये हुए उस प्रवाहमें बहकर उनका सब कुछ बाहर आ जाता, श्रीकृष्णचरणसरोरुहमें सर्वस्व समर्पित हो जाता। किंतु अचिन्त्य लीलामहाशक्तिके विधानसे ठीक अवसरपर ही लज्जा आकर व्यवधान बन गयी। इसीलिये आदरकी सामग्रियोंमें व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्रको केवल दे सकीं लज्जामिश्रित हास्य एवं विनयसे पूरित स्निग्ध वङ्किम चितवनकी भेंटमात्र। किंतु करुणावरुणालय, गुणनिधान, परम रसमय व्रजेन्द्रनन्दनने इसे ही बहुत-बहुत करके माना; इस सत्कारके उपहारको आन्तरिक उल्लाससे स्वीकार करके तब वे व्रजके देवता, भावग्राही, रसिक, रसनिधान प्रभु गोष्ठमें प्रविष्ट हुए।

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ४२-४३)

स्याम सचिक्कन सौरभ केसा।
गोरज भर्यौ सुभग सुठि बेसा॥
मोर-पच्छ, बन सुमन-सुहाए।
अंग-अंग सोभित मन भाए॥
चितवनि ललित-मंद मृदु हासा।
बंसी-रव सब सुख निधि बासा॥
ब्रज-जुवती-दृग भृंग सम, कृष्न-बदन बर कंज।
पान कर्यौ मकरंद-मद, बिरह-ताप-भय-भंज॥
ललित कटाच्छ-छेप हरि कीन्हा।
सलज मंद मुसुकनि सुख दीन्हा॥
ब्रजबनिता एहि बिधि सनमानी।
भवन प्रवेस कीन रसखानी॥
× × ×
मंद-मंद गति गाइन पाछे।
चलत ललन छबि पावत आछे॥
गोरज-छुरित कुटिल कच बने।
जनु मधुकर पराग-रस सने॥
मंजुल मोरमुकुट की लटकनि।
कंचन कुंडल गंडनि झलकनि॥
उर बनमाल, सुनैन बिसाल।
बाजत मोहन बेनु रसाल॥
सुनि कै गोपबधू सब निकसीं।
मुद्रित कमलकलीं जनु बिकसीं॥
हरि-मुख-कमल भर्यौ रस-रंग।
गोपी-लोचन लंपट भृंग॥
पुनि-पुनि करि कै पान अघाने।
दृगन के बासर बिरह सिराने॥
तब कछु नैनन पूजा कीनी।

लज्जासहित हँसति रँग भीनी॥
ता पाछे बर कुटिल कटाछे।
चली जु प्रेम रँगीलौ आछे॥
यह तिन की पूजा अभिराम।
लै आए घर मोहन स्याम॥

इस प्रकार जबसे नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे कैशोर झाँकने लगा, तबसे व्रजवधुओंकी, गोपकुमारिकाओंकी मनःस्थिति बदली, दिनचर्यामें परिवर्तन हुआ तथा प्रातः-सायं श्रीकृष्णदर्शनके समय उनकी यह उपर्युक्त अवस्था रहती। अवश्य ही अबतक कोई भी इसे जान नहीं सका था। किंतु आज जब श्रीकृष्णचन्द्र धेनुकवधके अनन्तर संध्याके समय गोष्ठमें प्रवेश करने लगे, वंशीका रव गूँज उठा—

वै मुरली की टेर सुनावत।
बृंदाबन सब बासर बसि, निसि-आगम जानि चले ब्रज आवत॥
सुबल, सुदामा, श्रीदामा सँग, सखा मध्य मोहन छबि पावत।
सुरभीगन सब लै आगैं करि, कोउ टेरत, कोउ बेनु बजावत॥
केकी-पच्छ-मुकुट सिर भ्राजत, गौरी राग मिलै सुर गावत।
सूर स्याम के ललित बदन पर गोरज छबि कछु चंद छपावत॥

—उस समय उन्हें देखकर वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ एक बार तो उन्मादिनी-सी हो उठीं। कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिने उन्हें प्रकृतिस्थ अवश्य बना दिया; पर उनकी यह विचित्र अवस्था कतिपय वयस्क व्रजपुरन्ध्रियोंके लिये आश्चर्यका विषय तो बन ही गयी। लज्जाके भारसे दबी वे व्रजवधुएँ, गोपकुमारिकाएँ, आज नन्दावासमें भी न जा सकीं। श्रीकृष्णचन्द्रकी स्मृति अपने मनमें धारण किये उस तोरणकी ओर शून्य आँखोंसे देखती रह गयीं, जहाँ पहुँचकर नीलसुन्दर व्रजरानीका लाड़ स्वीकार करते हुए गायोंको यथास्थान पहुँचाते हुए उनके दृष्टिपथसे ओझल हो चुके थे।

इधर व्रजेन्द्रगेहिनी, श्रीरोहिणी आदिके मनमें यह भावना स्पर्शतक नहीं कर सकी है कि उनके नीलमणिमें आयुसम्बन्धी अथवा चेष्टागत कोई विशेष परिवर्तन हुआ है। जननीकी, श्रीरोहिणीकी आँखोंके सामने तो वे अभी भी दुधमुँहे बच्चे-जैसे ही हैं सच तो यह है—माताओंके लिये नीलसुन्दरका कौमार, पौगण्ड, कैशोर उनकी वात्सल्य-धाराके आवर्त्तमें स्मृतिरूपसे, भविष्यकी सुखमयी कल्पनाके रूपसे सर्वथा प्रत्यक्ष-सा बनकर न जाने कितनी बार घूम जाता है! पर वास्तवमें उनके समक्ष कौन कितनी देर टिकता है, टिकेगा—इसकी मीमांसा आजतक किसीके लिये सम्भव न हो सकी। उनके मनोभाव जितने अंशमें क्रियारूपमें व्यक्त होते हैं, उसके आधारपर कोई सूक्ष्मदर्शी यत्किञ्चित् अनुमान भले कर ले कि मैया अमुक समयमें अपने पुत्रके अमुक वयस्-उचित भावसे भावित हैं। अन्यथा किसीको—अचिन्त्य सौभाग्यवश यदि माताओंको देख सकनेकी आँखें उसके पास हों तो—इतना ही दीख सकता है कि वात्सल्यजनित परम आर्त्ति एवं परम आनन्दकी लहरें उठ रही हैं एवं माताएँ सतत उसीमें बह रही हैं। जननी कभी तो किसी अनिष्ट-आशङ्कासे अत्यन्त विषण्ण हैं, कभी अत्यन्त तत्परतासे पुत्रके लिये खाद्य वस्तुएँ सँजो रही हैं, कभी आकुल चित्तसे प्रतीक्षा कर रही हैं और कभी प्राणोंके उल्लासमें भरकर प्रत्यक्ष लाड़ लड़ानेमें तन्मय हैं इतनी बेसुध-सी कि अपने शरीरका कोई भान ही जैसे न रहा हो। व्रजपुरमें क्या हो रहा है, क्या हुआ है यह कोई उन्हें सुना दे तो भले ही मनोयोगपूर्वक उसे सुन लें वह भी यदि घटना नीलमणिसे सम्बद्ध हो तो। नहीं तो, मनसे, शरीरसे राम-श्यामको लेकर वे अपने भावमें बह रही हैं। वनसे आते हुए नीलमणि, बलराम उन्हें दीख जाने चाहिये अथवा नीलमणि गोचारणके लिये वनमें चले गये, यह भावना उन्हें छू ले। फिर मैयाका, श्रीरोहिणीका मन कहाँ उलझा है—नीलसुन्दरको वे चन्द्र-दर्शन करा रही हैं कि गोचारणके प्रसङ्गमें छाक भोजन करा रही हैं अथवा मण्डप सजाकर नीलसुन्दरके व्याहकी कल्पनामें तन्मय हैं यह जानना सहज नहीं है। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रके अङ्गोंके अन्तरालमें वस्तुतः व्यक्त हुआ कैशोर व्रजेन्द्रगेहिनीके लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। उनके लिये तो वह कितनी बार आता है और फिर तत्क्षण ही नीलसुन्दर उन्हें स्तनपान करा देनेके लिये क्रन्दन करते हुए दीखने लग जाते हैं। अस्तु, मैया इस समय भी अपने भावमें मग्न रहकर ही प्रतीक्षामें बैठी हैं। और यह लो, देखो, उनके

कर्णपुटोंमें भी वंशीरव प्रविष्ट हुआ तथा जननी एवं श्रीरोहिणी उधर ही दौड़ चलीं। नहीं-नहीं, राम-श्याम तो उनके भुजपाशमें बँध चुके—

पहुँचे आइ स्याम ब्रजपुर में, धरहिं चले मोहन-बल आछे।
सूरदास प्रभु दोउ जननी मिलि, लेति बलाइ बोलि मुख 'आछे'॥

प्रतिदिनकी भाँति आज भी जननी एवं श्रीरोहिणीने राम-श्यामका संलालन किया। भवनमें पधार जानेपर समयके अनुरूप एवं दोनों पुत्रोंकी रुचिके अनुसार समस्त वस्तुओंकी व्यवस्था की गयी। परिधेयवस्त्र, भोजनसामग्री, पेयपदार्थ—सभी राशि-राशि एकत्रित कर दिये गये एवं राम-श्यामकी मनुहार आरम्भ हुई। दोनों माताओंने उद्वर्तन लगाकर, स्नान कराकर एवं अन्य विविध उपचारोंसे अपने पुत्रोंकी वनविहारजन्य समस्त श्रान्ति हर ली। अतिशय मनोहर सुन्दर वस्त्र धारण कराये, चन्दनसे श्रीअङ्गोंको चर्चित किया, दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ धारण करायीं। इतना हो जानेके अनन्तर सुन्दर आसनपर उन्हें विराजितकर परम सुस्वादु भोजन-सामग्रियाँ माताओंने अपने हाथों परोसीं तथा राम-श्यामने भी जननीका लाड़ स्वीकार कर एक-एक वस्तुका स्वाद लिया। भोजनसे परितृप्त होकर—होते-होते ही नीलसुन्दरकी, बलरामकी आँखें घुलने लगीं और तब व्रजरानीने दोनोंको ही अतिशय सुन्दर शय्यापर पधराया। बस, फिर तो देखते-देखते राम-श्यामके दृग् निमीलित हो गये। जननीका अङ्क उपधान बना और वे दोनों सुखकी नींद सो गये—

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे॥

(श्रीमद्भा० १०। १५। ४४—४६)

दोउ जननीं सुत उभय निहारी।
हरषि उठाय अंक बैठारी॥
आसिष दै पुनि बिबिध प्रकारा।
सुत लड़ाइ सुख लहीं अपारा॥
ललित कपूर उबटि अन्हवाए।
श्रम-पथ सकल सुदूरि बहाए॥
नील-पीत पट कटि-तट बाँधी।
एहि बिधि सुत जसुमति आराधी॥
पुनि सुगंध चर्चित करि गाता।
सुमन माल पहिराइ सुहाता॥
भोजन बिबिध प्रकार अनेका।
जसुमति परसे सहित बिबेका॥
भोजन करि हरि प्रीति जुत, जननी-तलप सवारि।
सोए तहँ जदुबंसमनि, अखिल लोक सुखकारि॥

× × ×

जसुमति द्वार आरती कियौ।
पोंछि कै बदन सदन मैं लियौ॥
उबटन उबटि फुलेल लगाइ।
स्वच्छ सुगंध सलिल अन्हवाइ॥
सुभग सुस्वाद सुबिंजन आनि।
जननी ग्याँये अपने पानि॥
रितु-रितु के भोजन अनुकूल।
रितु-रितु के बर फूल-दुकूल॥
दुग्ध-फेन सम सेज बनाइ।
पौढ़े तहाँ कुँवर बर आइ॥

व्रजेन्द्रनन्दनकी यह सुखमयी निद्रा उनके ही चरणसरोरुहकी छायामें सतत विश्राम करनेवाले भक्तोंकी परम निधि होती है। प्रतिदिन उनके प्राण पूर्णतया आश्वस्त होते हैं अन्तमें यह दर्शन कर लेनेपर ही। अतिशय मञ्जुल झाँकी होती है यह यदि किसीकी आँखोंमें इसे देखनेकी क्षमता नीलसुन्दर भर दें तो!—

'नंद' नींद नँद-नंद की, कही जु इहि अध्याइ।
गुनातीत की सोइबौ, सब भगतन कौ भाइ॥

गोप-बालकोंके साथ बलराम-श्रीकृष्णकी विविध मनोहारिणी लीलाएँ

शरद्‌ने राशि-राशि कमलोंके उपहार श्रीकृष्णचन्द्रको समर्पित किये, हेमन्तने नवधान्योंका अम्बार सजाकर नन्दनन्दनकी अर्चना की, शिशिरने ओसकणोंकी असंख्य मालाएँ पिरोकर श्रीचरणोंके लिये पथ सजाया, वसन्तने कुसुमित वल्लरियोंका, मुकुलित आम्रशाखाओंका वितान निर्मितकर, मलयमारुतका व्यजन डुलाकर, भ्रमर-गुञ्जनसे, कोकिलके कुहू-कुहू रवसे नीलसुन्दरका क्षण-क्षणमें अभिनन्दन किया। इस प्रकार धेनुक-वधके अनन्तर चार ऋतुएँ आयीं तथा श्रीकृष्णचन्द्रका आनन्दवर्द्धन कर, उनकी उन-ठन लीलाओंके अनुरूप देश-कालका निर्माण कर वृन्दाकाननके सघन कुञ्जोंमें जा छिपीं और अब इनके पश्चात् समयपर ही आया है नन्दनन्दनके सप्तम वर्षका ग्रीष्म। शरीरधारीमात्र इसके स्पर्शसे जलने लगते हैं, इसलिये उन्हें यह बहुत प्रिय नहीं; किंतु वृन्दाकाननका स्पर्श इसे भी मनोरम बना देता है, सर्वथा बदल देता है इसके तपनशील, ज्वालामय स्वभावको। व्रजवासी कालमानसे गणना भले कर लें कि यह ग्रीष्म है, पर ग्रीष्मके दाहक गुण उनके दृष्टिपथमें नहीं आते। वहाँ तो वसन्तकी ही छटा फैली होती है। क्यों न हो, जहाँ अनन्त-ऐश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन एवं उनके अग्रज श्रीबलराम साक्षात् विराज रहे हों, उनकी लीला-मन्दाकिनीकी चिन्मय सरस धारा नित्य प्रसरित हो रही हो, वहाँ ग्रीष्मके जलते हुए नेत्रोंमें वसन्तकी सुषमा क्यों न पूर्ण हो उठे!

....।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम्॥
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। २-३)

ग्रीषम रितु आपने सुभाइक।
प्रगट्यौ जगत सबन दुखदाइक॥
अति निदाघ तहँ कछु सुधि नाहीं।
दादुर दुरे फनी-फन-छाँहीं॥
सो बृंदाबन मधि जब आयौ।
सरस बसंत समान सुहायौ॥
× × ×
श्रीबृंदाबन गुन करि सोऊ।
मधु रितु सरिस देख सब कोऊ॥
× × ×
आइ ग्रीषम तेज तीषन भानु भीषम देखियै।
मंडि भू नभ खंड मंडल कौं तच्यौ अवरेखियै॥
तप्त बेग प्रचंड ह्वै चलि सो प्रभंजन आइ कैं।
संधि-संधि दिसानि पूरत धूर-धारनि धाइ कैं॥
सूर बोजन की जलाकनि जक्त कौ उर तापही।
बासु जे ब्रज में करहिं, तिन कौं प्रतापु न ब्यापही॥

सचमुच वनकी, इस ग्रीष्मके समय भी, कैसी निराली शोभा है!—अगणित निर्झरोंके मधुर 'झर-झर' शब्दमें झींगुरोंकी कर्णकटु झंकार आच्छादित हो गयी है। उन प्रपातोंसे असंख्य जलकण निरन्तर उच्छलित हो रहे हैं, उनसे सिक्त हुई सम्पूर्ण वनस्थली, वह स्निग्ध हुई समस्त तरुश्रेणी अद्भुत-रूपसे सुशोभित हो रही है। सर्वत्र हरित तृणोंका आस्तरण-सा आस्तृत है। सरिता, सरोवर एवं प्रपातोंकी लहरोंपर बहती हुई वायु अत्यन्त शीतल हो रही है; कुमुद, पद्म, नीलोत्पल आदि अनेक पुष्पोंके किञ्जल्कको अपने अञ्चलमें भरकर वनकी, व्रजपुरकी परिक्रमा कर रही है; मन्द मन्थर गतिसे झुर-झुर कर प्रत्येक वृन्दावनवासीका स्पर्श कर रही है वह। इसीलिये किसी भी काननवासीको ग्रीष्मकालीन सूर्यके, अग्निके तापकी अनुभूति नहीं। सरिताओंका जल क्षीण न हुआ, ह्रद शुष्क न हुए, सरोवरकी श्री म्लान न हो सकी; अपितु सबमें ही अगाध जल भरा है। उनमें अभी भी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं। उन लहरोंसे तट निरन्तर प्लावित हो रहा है। भूमिमें, पुलिनमें सर्वत्र आर्द्रता भरी है। विषके समान उग्र सूर्यकी ये रश्मियाँ तनिक भी काननके, व्रजपुरके धरातलका रस-शोषण न कर सकीं, वहाँकी हरितिमाका

अपहरण न कर सकीं; सर्वत्र हरियाली ज्यों-की-त्यों बनी है। वहाँकी तरुराजि, लताएँ वैसी-की-वैसी राशि-राशि कुसुमोंके भारसे अभी भी नमित हैं। कण-कणसे सौन्दर्यका स्रोत वैसे-के-वैसे प्रसरित हो रहा है। विविध विचित्र विहंगमोंका कलरव, मृगोंका मनोहर संचरण, मयूरोंका सुन्दर रव, भ्रमरोंका मधुर गुञ्जन, कोकिलका, सारसका कूजन—सभी ज्यों-के-त्यों बने हैं। वृन्दाकाननमें निरन्तर परिव्याप्त उस अप्रतिम श्रीका कहींसे तनिक भी ह्रास न हो सका है।

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्।
शश्वत्तच्छीकरजीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥
सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥
अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
र्ईवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते॥
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। ४—७)

झरना झरत बिपुल बहु रंगा।
झिल्ली-रव सब है गए भंगा॥
तरु-राजी तेहि तट-तट सोहति।
जल-कन तें सुभ हरित बिमोहति॥
फल-दल-सुमन ललित सब काला।
मुनि-मन-मोहक सुरभि रसाला॥
सरिता-सर-थल सुभग अनूपा।
बिगसे कंज-पुंज बहुरूपा॥
ताहि परसि बह मंद समीरा।
सीतल-सुखद हरै जन पीरा॥
तृन तट हरित सुभग सुखकारी।
ब्रज जन ताप-ओघ-अघहारी॥
तहँ निदाघ ब्यापै नहीं, भानु-कृसानु न जार।
बनबासी मुद जुत रहत, निरखत नंदकिसोर॥

ह्रदनी बरि अगाध, तरल तरंगिनि तट परसि।
तृन सब हरित अबाध, छिति रह संतत पंक-जुत॥
नहिं प्रचंड कर छुअत दिनेसू।
तेहि थल कौ रस कबहुँ भरेसू॥
जाहि रस्मि करि सब जग तापू।
सो ब्रज धू रंचक नहि ब्यापू॥
कुसुमित बन सुंदर अति पावन।
बोलत खग-मृग सुभग सुहावन॥
गावत मत्त मयूर अनेका।
अलि सारस परिभृत सुर एका॥
(एक हस्तलिखित भागवतसे)

× × ×

ठौं-ठौं गिरि तैं निर्झर झरैं।
ते वै सलिल सिलन पर परैं॥
तिन तैं बहति जु सरिता गाहिरी।
दूरि-दूरि लौं परसति लहरी॥
बहुरि अनेक अगाध जु सरबर।
रस झूमरे, घूमरे तरबर॥
तिन के तर तृन-बीरुध खिते।
हरित-हरित रँग धरित सु तिते॥
तरनि-किरनि जिन नैंक न परसै।
छिन छिन में छबि तिन में सरसै॥
कुसुमित बनराजी अति राजी।
जैसी नहिंन बसंत बिराजी॥
ठौर-ठौर सर सरसिज फूले।
डोलत लंपट अलिकुल भूले॥
कमल पवन अरु चंदन पौन।
मिलि जु बहत, सुख कहियै कौन॥
बोलत सुक, जनु सुक-मुनि पढ़े।
सरसुति सम कल कोकिल रढ़े॥
मधुर-मधुर सुर बोलत मोर।
नंद-सुवन के मन के चोर॥
(नंददास)

× × ×

कुंज कुंज कदंब भूरुह बंद बेलिनि सौं मिलैं।
फूल झौंरनि भौंरि झौरत दौंरि भौंरन सौं हिलैं॥
चंड अंसन कौं प्रबेसु न ह्वै सकै तिन में तहाँ।

मित्रजा-जल की हिलोरनि के पैं कनिका जहाँ॥
गंधवाहक यौंन जो मधु डारि कंजन कोस कौं।
देखि कै मिटि जातु दग्ध हृदै तृषार्दित जास कौं॥
हंस बंस करैं कलोलनि, कोकिला कल कौं करैं।
स्वच्छ पच्छिय लच्छ लच्छन बोलि कैं मन कौं हरैं॥
मोदकारी है सदा बन, पुष्प सौरभ कौं भरैं।
सक्र कौ बन होतु का, वह नाम नंदन कौं धरै॥
(कृष्णचन्द्रिका)

अस्तु, आज भी सदाकी भाँति श्रीकृष्णचन्द्र सब ओरसे कुसुमित, हरितिमाका पुञ्ज बने हुए इस परम रमणीय वनमें विहार करनेके उद्देश्यसे चले जा रहे हैं। आगे-आगे उछलती-कूदती चली जा रही हैं असंख्य गायें तथा उन्हें सब ओरसे घेरकर अतिशय उल्लासमें भरे फुदकते-से जा रहे हैं वे अपरिमित शिशु। पथका निर्देश उनके पार्श्वमें विराजित अग्रज श्रीबलरामके द्वारा हो रहा है; क्योंकि स्वयं नीलसुन्दर तो आज अधरोंपर वंशी धारण किये हुए विविध रागिनियोंकी तान छेड़नेमें तन्मय-से हुए झूम रहे हैं—

क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। ८)

तेहिं बन प्रबिसे कृष्न कृपाला।
भ्रात सहित छबि-धाम गुपाला॥
बेनु बजाइ, गोप लै संगा।
धेनु अग्र लिऐं नाना-रंगा॥
क्रीडा हित तहँ गे जदुनंदा।
जन पालक-हरि आनँद-कंदा॥
× × ×
इहि बिधि बृंदाबन छबि पावत।
तहँ मनमोहन धेनु चरावत॥
बल समेत ब्रजबाल समेत।
श्रीनिकेत सबहिन सुख देत॥
× × ×
उमड़े द्रुम, झुमडे लसनि, सुमड़े सुमन अपार।
निबिड़ छाँह सीतल, जहाँ बिहरत नंद कुमार॥

तथा वनविहार आरम्भ होनेसे पूर्व सबका अपना मनोवाञ्छित शृङ्गार हो जाना भी अनिवार्य है ही। इसके लिये भी सम्पूर्ण व्यवस्था काननकी अधिष्ठात्री पहलेसे ही प्रस्तुत रखती हैं। वह देखो, आगे उस विस्तृत वनखण्डमें वृक्षोंके वितानके नीचे भूमिको स्पर्श करनेवाली उन हरी-हरी लताओंके समीप सभी अपेक्षित सामग्रियाँ एकत्रित कर दी गयी हैं। नव पल्लव झुक-झुककर आह्वान-से कर रहे हैं—'आओ, वनके देवता! मुझे अपने श्रीअङ्गपर, सखाओंके अङ्गोंपर स्थान देकर कृतार्थ कर दो! तुम्हारा आभरण मैं बनूँ, इससे अधिक मेरा और सौभाग्य क्या होगा।' राशि-राशि मयूरपिच्छ विस्फारित-नेत्र-से हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं—'कब नन्दनन्दनका, उनके सखाओंका स्पर्श हमें प्राप्त हो जाय।' किसीने जैसे चयन कर पुष्पोंका ढेर लगा दिया है, उनके रूपमें द्रुमवल्लरियोंके हृदयका आह्लाद, आह्लादकी बिखरी हुई लहरें मानो बाट देख रही हैं—'वे आ रहे हैं नीलसुन्दर, हमें धारणकर अलङ्कृत होंगे वे एवं उनके प्राणसखावर्ग!' गैरिक आदि धातुओंने तो जैसे अपने अन्तस्तलका राग समर्पित करनेके उद्देश्यसे वनकी उन पगडंडियोंके समीप ही अपना नित्य आवास बना लिया है—'पता नहीं, कब नीलसुन्दर हमारे द्वारा रञ्जित होनेकी इच्छा कर लें!' इस प्रकार सभी वस्तुएँ एक साथ उपलब्ध हो गयी हैं, तब इनके उपयोगमें विलम्ब क्यों हो। राम-श्यामने, गोपशिशुओंने देखते-देखते ही इन नव किसलयोंसे, मोरपंखोंसे, चित्र-विचित्र कुसुमगुच्छोंसे, विविध वर्णमयी पुष्पमालाओंसे, रंगीन धातुओंसे अपने-आपको भाँति-भाँतिके वेशमें सजा लिया—

प्रवालबर्हस्तबकस्त्रग्धातुकृतभूषणाः।
(श्रीमद्भा० १०। १८। ९)

मोर-पच्छ, स्रज, धातु, प्रबाला।
सुमन-गुच्छ किय बेस बिसाला॥
× × ×
कहूँ रचत भूषन, बनमाल।
लै-लै फल-दल-फूल-प्रबाल॥
× × ×
सिर मोरपच्छ बनाइ खसित संगमें।
गिरि-धातु गात लगाइ राजत रंगमें॥

उरमाल स्वच्छ बिसाल गुंजनि की बनी।
कुसुमालि सुष्ठ सुगन्ध सोहति है घनी॥

और तब व्रजेन्द्रनन्दन खेलने चले नृत्यमय, संगीतमय बाहुबलप्रदर्शनमय विविध खेल!—

रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः।
(श्रीमद्भा० १०। १८। ९)

नृत्य-गान करि जुद्ध-बिधानू।
राम-कृष्न मिलि गोप सुजानू॥
× × ×
तहँ भितँ करत अनेक लीलनि कौं धरैं।
गति भेदबर्ति अपार तालनि कौं भरैं॥

किसकी सामर्थ्य है, जो ठीक-ठीक चित्रित कर दे चिदानन्दमयके इस खेलको। सूचीमात्रका निर्माण कर देते हैं वे लोग, जिनके नेत्रोंमें श्रीकृष्णचरणसरोरुहकी रजका अञ्जन लगा होता है। वह भी इतना-सा ही—

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र नृत्य करने लगते, उस समय अतिशय मधुर कण्ठसे बलराम संगीतकी तान छेड़ते तथा एक मण्डली उनके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उस संगीतमें योगदान करती। सुबल बाँसुरीमें स्वर भरता तथा उसकी गमकका अनुसरण करते हुए कुछ शिशु वंशीवादनमें तत्पर होते। अर्जुन शृङ्ग बजानेका नेता होता एवं उसी लयके साथ एक मण्डली अपने-अपने शृङ्गोंको फूँकती रहती। कुछ शिशु अर्द्ध निमीलित नेत्रोंसे, कुछ अपलक-नेत्र हुए हथेलीके द्वारा ताल देनेमें संलग्न रहते। स्तोककृष्ण एवं उसके समवयस्क शिशुओंकी एक टोली नीलसुन्दरकी गतिभङ्गिमाओंका ठीक-ठीक अनुकरण करनेमें, वैसे ही नृत्य करनेके प्रयासमें तन्मय रहती। इस अवसरपर श्रीदाम सभापतिके आसनपर विराजित होता तथा उसके मुखसे एवं शेष समस्त बालकोंके मुखसे 'वाह-वाह' की अतिशय उल्लासभरी ध्वनि अन्तरिक्षको रह-रहकर निनादित करती रहती। किंतु नीलसुन्दरके उस त्रिभुवनमोहन नृत्यका प्रभाव भी विचित्र ही होता। कुछ ही क्षणोंमें सहचारी नर्त्तक बालक मुग्ध होकर, अपने नृत्यका विराम कर उनकी ओर ही निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लग जाते। रामका एवं उनके सहयोगी गायकोंका कण्ठ भर आता, संगीत-स्वर-लहरी स्थगित हो जाती और मत्त-से हुए वे सब-के सब देखने लग जाते श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही। वंशीमें स्वर भरनेवाले अर्जुन एवं उसके सहायकोंको भी यही दशा होती। कब वंशीवादनकी क्रिया छुट गयी, वह भी वे नहीं जान पाते। अँगुलियाँ छिद्रोंसे लगी रहतीं, होठ भी फूँक भरनेकी मुद्रामें ही रहते, पर फूँक भरनेकी क्रियात्मक वृत्ति नृत्यपरायण नन्दनन्दनमें सहसा विलीन हो जाती। शृङ्गवादी बालक भी अपनी सुध-बुध खोकर ज्यों-के-त्यों मुद्रामें व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर देखने लग जाते। हथेलीसे ताल देनेवाले शिशु भी विभोर हो जाते, उनके तालका भी विराम हो जाता। श्रीदाम एवं शिशुसभासदोंकी वाणी भी रुद्ध हो जाती। इस प्रकार एक अद्भुत नीरवता-सी छा जाती और इसके बीच अपने ही नूपुर, कङ्कण एवं कटिकिङ्किणीके 'रुन-झुन' तालपर नीलसुन्दरका नृत्य चलता रहता। उस समय अन्तरिक्षचारी देवगणोंको सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाता। वे गोपशिशुओंका रूप धारण करते, नीचे उतर आते तथा गोपरूपधारी परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगते—इस भाँति जैसे मञ्चपर विराजित एक नरश्रेष्ठका स्तवन अन्य नट कर रहे हों! इतनेमें शिशु-सभासदोंकी, वंशी-शृङ्गवादकोंकी, तालधारियोंकी, गायकवर्गकी भावसमाधि टूटती और फिर साधुवादके तुमुल रवसे इस नृत्योत्सवकी समाप्ति होती!

अब दूसरी क्रीडाओंका क्रम चलता। कभी दोनों भाई राम-श्याम परस्पर हाथ पकड़कर कुम्हारके चाककी तरह घूमने लगते। उस समय कंधोंपर झूलती हुई उनकी घुँघराली अलकें अद्भुत शोभा धारण करतीं। पुनः साधुवादका स्वर गूँजता और शिशु भी तत्क्षण इस 'घुमरी-परेता' खेलका अनुकरण आरम्भ करते। तबतक राम-श्याममें होड़ लगती—कौन कितनी दूर पृथ्वीको फाँद सकता है। फिर तो दोनों ही साथ-साथ कूदते और कई हाथ लंबी भूमिका लङ्घन कर जाते। कभी यह परीक्षा होती कि क्षेपणयन्त्रसे अथवा हाथके वेगसे ही ढेले, प्रस्तरखण्ड अथवा अमुक मानके फलको कौन कितनी दूर फेंक सकता है। कभी ताल ठोक-ठोककर दोनों भाई दो

दलोंके अधिनायक बन जाते। नीलसुन्दर अपना दुकूल अथवा राम अपना उत्तरीय गोदोहनकी रज्जुमें लपेट देते। इसकी एक छोरको पकड़ लेता रामके सहित रामका दल एवं दूसरे छोरको धारण करता नीलसुन्दरके सहित उनका दल और तब उसे खींचते दोनों अपनी-अपनी ओर। विजय किसकी होती, इसे देखते अन्तरिक्षचारी देवगण अथवा वे देखें, जिन्हें वैसे आँखें प्राप्त हों। शिशुओंमें तो विवाद हो जाता—'जय मेरी हुई नहीं-नहीं, मेरे दलकी हुई।' अवश्य ही उस समय भी राम-श्याम हँसते होते तथा बलाबलका निर्णय करनेके लिये जब बाहुयुद्धकी परस्पर दोनों दलोंमें चुनौती होती, तब हँस-हँसकर पहला युद्ध दोनों भाइयोंका ही होता।

किंतु अधिक देरतक यह मल्लक्रीडा चल नहीं पाती। सदाकी भाँति स्तोककृष्ण गरज उठता और सभी शङ्कित हो जाते—'अरे! कन्नू श्रान्त हो गया है।' तथा प्रसङ्ग बदलनेके उद्देश्यसे एक मण्डलीका प्रस्ताव अग्रजके समक्ष या नीलसुन्दरके आगे आ ही जाता—'अरे दादा! अरे कन्नू भैया! हमलोग तो नाच ही नहीं सके, कुछ हमलोगोंकी भी कला देखो!' बस, वहीं श्रीकृष्णचन्द्र एवं रोहिणीनन्दनका कार्यक्रम बदल जाता। पुनः छिड़ जाती बाँसुरीकी तान, बह चलती संगीतकी मधुधारा और वे शिशु नृत्य करने लगते। स्वयं श्याम-बलराम राग अलापकर, वंशी-शृङ्ग बजाकर उनमें उत्साह भरते, साथ ही नृत्यके ताल-परिवर्तनके समय—न जाने कैसे, संगीत-स्वरलहरी, वाद्य-झंकृतिसे अक्षुण्ण बनी रहकर ही—दोनों भाइयोंके श्रीमुखसे निर्गत साधुवादका वह सुधास्यन्दी स्वर सखाओंमें आनन्दोन्मादका संचार करने लगता।

अस्तु, यह उद्दाम नृत्य पुनः चञ्चल चेष्टाओंको जाग्रत् करता। देखते-देखते ही बिल्व, जाम्बफल, आमलकी फलोंको परस्पर एक-दूसरेपर फेंकनेकी क्रीडा आरम्भ हो जाती। मार बचानेके उद्देश्यसे पराजित दल कुञ्जोंमें छिपने जाता और इस प्रकार आँख-मिचौनीके खेलका सूत्रपात होता। दौड़ दौड़कर परस्पर स्पर्श करनेकी क्रीडा भी इसके अन्तर्गत ही प्रारम्भ हो जाती तथा आगे चलकर न जाने कितने रूपोंमें यह खेल चलता रहता।

विहंगम एवं पशुओंकी चेष्टानुकृति भी दैनंदिनी क्रीडाका आवश्यक अङ्ग है ही। यह भी होती ही। साथ ही अल्पवयस्क शिशुओंके साथ मेढककी भाँति फुदक-फुदककर चलनेका खेल राम-श्याम न खेलें—यह कैसे सम्भव है। अपने मुँह फुला-फुलाकर, उसे भाँति भाँतिसे विकृतकर सजाकर सखाओंका आनन्दवर्द्धन भी वे करेंगे ही, करते ही। इसके अतिरिक्त वह स्थावर तरुश्रेणी सेवा समर्पित करनेकी, उनके योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीअङ्गस्पर्शकी प्रतीक्षामें ही तो खड़ी है तथा परमोदार गुणागार प्रभु उसका मनोरथ पूर्ण किये बिना कैसे रहें? इसीलिये उन तरुशाखाओंमें अपने हाथों झूला डालकर श्रीकृष्णचन्द्र झूलने लगते। राज्यशासन, प्रजापालनका खेल हुए बिना भी उन शिशुओंको चैन नहीं। इसलिये इसका भी सम्पूर्ण अनुकरण होता। राजके पदको या तो सुशोभित करते नीलसुन्दर या बलराम और फिर देखनेयोग्य होती उनकी वह खेल-खेलकी अद्भुत शासन-व्यवस्था! अस्तु, यह है उनकी ग्रीष्मकालीन—विशेषतः आजकी क्रीडाकी एक संक्षिप्त सूचिका—

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे॥
गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः।
विक्रीडतुर्मियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ॥
क्वचिद्बिल्वैः क्वचित्कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्यन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥

(श्रीमद्भा० १०। १८ १०—१५)

नचत कृष्न जब ता समैं, कोउ गावत सुर बाँधि।
अपर बाद्य बहु बिधि करत, कोउक ताल सुर साँधि॥
धन्य-भाग्य ते गोपबर, जे बिहरत हरि संग।

मिले न थोरे पुन्य बिनु, सपरस प्रभुको अंग॥
गोप जाति करि बेस, बिबुध बृंद मोहैं सकल।
पहिलेहिं कह्यौ नरेस, छिति गइ जब बिधि के निकट॥
कोउक गोप तहँ करैं प्रसंसा।
कोउक सृंग रव पूरहिं बंसा॥
कोउ कह भले-भले जू नटबर।
नचे भली बिधि सौं गति थर थर॥
रीझि रीझि कोउ इमि कह बानी।
जिमि नट कौं नट कहै बखानी॥
क्रीड़त बिबिध भाँति दोउ भ्राता।
काक पच्छ धर सुभग सुगाता॥
ताल ठोकि लंघत अरु गाजत।
आकरषन करि जुग-जुग राजत॥
कबहुँ ख्याल सँग भिरत बलाई।
कबहुँ हास्य करि हँसत हँसाई॥
अपर ग्वाल कोउ नचत प्रबीना।
गावत दोउ जन राग नबीना॥
बाद्य बजाइ प्रसंसत तिनही।
परम भाग्य मानों जग उनही॥
कबहुँ बिल्व फल सो हरि लरही।
कबहुँक अमलक लै पुनि भिरही॥
कबहुँक कुंभी फल बहु आनी।
भिरत परसपर अति सुख मानी॥
मुष्टि बंध कबहुँक करि ख्याला।
रमे गोप सँग प्रभु गोपाला॥
नेत्र-बंध-लीला पुनि करहीं।
खग-मृग-ईहा पुनि संचरहीं॥
पुनि दादुर-गति चलत-चलावत।
बहुत हास्य करि सखन हँसावत॥
कबहुँक करि स्पंदोलिका, क्रीड़त नृप इव ख्याल।
अखिल लोक पति गोपबर, बन्यो नंद को लाल॥

× × ×

कहूँ अवधि बदि मेलत डेलन।
कहूँ परस्पर खेलत खेलन॥
कहुँ अँग छुवनि, कहूँ दृग बंधनि।
कहुँ चढ़ि जात द्रुमन के कंधनि॥
कबहूँ नितंत मोहनलाल।
ताल बजावत गावत ग्वाल॥
कबहूँ बर हिंडोल बनावत।
झूलत मिलि, गावत छबि पावत॥
कबहूँ राज-सिंहासन ठानत।
छत्र, चँवर फूलन के बानत॥
राजा है रजई दिखरावत।
ग्वाल-बाल दुंदुभी बजावत॥

× × ×

करि गान, तान उचारि मोहन मोहियौ।
सुर बीन बेनु बजाइ सोहन सोहियौ॥
फिरि बाहु-जुद्ध बिसाल आपुस में रचैं।
उत-सर्प, कूदन, बाहुछेपनता सचैं॥
फल-फूल-पत्र नवीन कोमल हेरि कै।
तहँ जुद्ध-उद्धतता करैं हँसि-मेलि कै॥
धुनि फेरि जो मृग आदि पच्छिन की करैं।
सब गोप-ग्वाल उमंगि आनँद सौं भरैं॥
अमित भाव लीला करत, अमित चरित्र बिहार।
अमित ख्याल नाँधत तहाँ, राम-कृस्न सुकुमार॥

कौन पहचान सकता है इस समय परब्रह्म पुरुषोत्तमको इस वेशमें? एक प्राकृत शिशु और उनमें क्या अन्तर रहा है?—

लौकिक लरिकन की सी नाईं।
खेलत खेल जगत के साईं॥

इसीलिये कंसप्रेरित प्रलम्ब दैत्य भी भ्रमित हो गया, प्रत्यक्ष दर्शन पाकर भी नहीं पहचान सका वह अनन्तैश्वर्यनिकेतन प्रभुको और अब गोपशिशुका वेश धारणकर उन विश्वपतिकी वञ्चना करने चला है वह मूढ़!—

असुर-राज प्रलंब आइब। सखा-रूप अनूप ठाइब॥
दनुज-कुल-सिरताज जानहुँ। कंस नृप कौ मित्र मानहुँ॥
आइ मिलि खल खेल खेलतु। बात नहिं मन में गदेलतु॥
अखिल जगु जिहिनै रमायब। असुर तासौं छल बनायब॥

प्रलम्बासुर-उद्धार

यद्यपि प्रलम्बने वेशका अनुकरण करनेमें कोई कसर नहीं की, बाह्यदृष्टिमें वह सचमुच गोपशिशुके रूपमें ही परिणत हो गया, श्रीकृष्णसङ्गसे दिनभरके लिये वञ्चित हुए, घरमें अभिभावकोंद्वारा रुद्ध उस बालककी सम्पूर्ण मुद्राएँ, चेष्टाएँ सोच-सोचकर उसने अपनेमें व्यक्त कर लीं, और यहाँ आकर इस समाजमें मिश्रित होनेके उद्देश्यसे, इसका ही आश्रय ले लेनेकी इच्छासे वह इसमें हँसता हुआ प्रविष्ट भी हो गया। तथापि सर्वज्ञ, सर्ववित् श्रीकृष्णचन्द्रकी आँखें तो उसपर पड़ ही गयीं—

वेश्मस्थितगोपबालविशेषवेषं समुह्य तमेव च व्युह्य मिश्रीभवितुं शिशीषन् हसन्नेव तत्र प्रविष्टः परिदृष्टश्च कृष्णेन।

(श्रीगोपालचम्पूः)

और लीलाविहारी ही तो ठहरे वे, कैसे अनजान-से बन गये और हँसकर बोले—

भद्र! कथं विलम्बमालम्बथास्तथापि भद्रं दुद्यूषासमय एव समयितस्त्वमसीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे भैया! तुमने देर क्यों कर दी रे! फिर भी बहुत सुन्दर! तुम आ तो गये ठीक खेलनेकी इच्छा करते ही।'

नीलसुन्दरके सलोने दृगोंमें प्रलम्बका यह कृत्रिम सुन्दर गोपशिशुरूप ही नहीं, इसके अन्तरालमें प्रतिष्ठित महाभयंकर असुर-देह तथा इससे भी पूर्व जब वह 'विजय' नामक गन्धर्वके शरीरमें अधिष्ठित था, उस समयकी घटना, विजय गन्धर्वकी भावना—सब कुछ प्रतिचित्रित हो उठा। यह शिशु—नहीं-नहीं, प्रलम्बासुर अभी-अभी तो निराश कंस सम्राट्को क्रोधमें भरकर आश्वासन दे आया है·····'घबरायें नहीं, प्रभो! क्या वह सामान्य गोपशिशु नष्ट नहीं होगा? अहो! सर्वविध्वंसी कालकी महिमा बड़ी विचित्र है; हिमाचलको भी वह दग्ध कर देता है, उसके आश्रित नदनदी-तड़ागोंको भी वह सोख लेता है।'

अहो! सर्वंकषञ्चालस्य कालस्य महिमा हिमाचलमपि ज्वलयति तदाश्रितांस्तडागांश्च ताडयति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा इस अभिसंधिसे ही वह इस समय यहाँ वनमें आया है—'राम-कृष्ण दोनोंको ही कंधोंपर उठाकर शीघ्र मधुवनकी सीमामें कंसके समीप ले जाऊँगा।'

द्वयमपि प्रक्षिप्य क्षिप्रमेव भोजराजपरिसरं परि समुपहरिष्यामीति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

सर्वथा भूल गया है वह अपने अतीतके जीवनको। वह हूहू गन्धर्वका पुत्र विजय था। कुसुम-चयन करने आया था चैत्ररथ वनमें। यक्षपति कुबेरके शापकी बात उसे ज्ञात न थी—'जो भी मेरे इस उद्यानसे पुष्प ग्रहण करेगा, वह—देव हो, मानव हो—कोई भी हो, असुर बनकर भूतलपर जन्म ग्रहण करेगा।' दैवप्रेरित विजयने अनजानमें ही पुष्पचयन किया और देखते-देखते ही गन्धर्व-पदसे च्युत हो गया। अवश्य ही असुर-देहमें अभिनिविष्ट होनेसे पूर्व उसने कुबेरकी शरण ले ली थी तथा यह वरदान भी वह प्राप्त कर चुका था—'विनीत गन्धर्व! चिन्ता मत करो! तुम विष्णुभक्त हो, तुम्हारी वृत्तियाँ शान्त हैं। जाओ, द्वापरके अन्तमें श्रीबलरामके हस्तकमलोंसे तुम्हें मुक्ति मिल जायगी। भाण्डीरवनमें यमुना-पुलिनपर वे प्रभु तुम्हारे अनादि संसरणको सदाके लिये शान्त कर देंगे, तनिक भी इसमें संदेह नहीं।' पर इन बातोंकी अब उसे तनिक भी स्मृति नहीं रही है, किंतु जगन्नियन्ता कैसे विस्मृत हो जायँ। प्रलम्ब उनके दृष्टिपथमें आया—चाहे कितना भी भ्रान्त होकर क्यों न आया हो, वे करुणावरुणालय प्रभु तो भ्रान्त नहीं हैं। वे तो सम्पूर्ण अतीत-अनागतको वर्तमानके रूपमें

ही नित्य देखते रहते हैं। इसीलिये इस समय यदुवंशविभूषण प्रभुने प्रलम्बकी मैत्रीका अभिनन्दन किया है; उसे इस असुर-देहसे निकालकर दूर—बहुत दूर, प्रकृतिके पार जो ले जाना है उन्हें!—

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदत तत्सख्यं बधं तस्य विचिन्तयन्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। १८)

प्रभु सर्बग्य जानि सब बाता।
ताहि मारिबे कहँ मन राता॥
करयौ सखा ता कहँ सब जानी।
मरिहै खल एहि बिधि मन ठानी॥

अस्तु, नीलसुन्दरने शिशुवेशधारी प्रलम्बको स्नेहसे आप्यायित करते हुए यहाँतक कह दिया—

अद्यारभ्य सभ्य! मम परमसुहृद्वानेव। त्वामहमक्षिगत्ततया स्थापयिष्यामि। श्रीदामा राममेवान्वेतु।
(श्रीगोपालचम्पूः)

'मित्र! आजसे तुम्हीं मेरे परम सुहृद् हुए। तुम्हें मैं अपनी आँखोंमें ही रखूँगा। श्रीदामा अब बलरामदादाका अनुसरण करें।'

प्रलम्ब आया है उनपर अपनी चातुरीका विस्तार करने, जिनसे स्वयं विश्वस्रष्टा ब्रह्मामें भी ज्ञानका संचार होता है। अतएव वह मूढ़ समझ नहीं सका श्रीकृष्णचन्द्रकी इस उक्तिका तात्पर्य। वह तो क्या समझे, स्वयं समीपमें स्थित उनके अभिन्नस्वरूप, साक्षात् शेष, अनन्तदेव श्रीबलराम भी गन्ध न पा सके कि क्यों आज अभी सहसा, उनके अनुज अपने प्राण-प्रतीक श्रीदाम सखाको उनका अनुयायी बना दे रहे हैं तथा इससे पूर्व कि दाऊ दादा कुछ पूछ बैठें, वह नवागत गोपबालक—प्रलम्ब कुछ स्वीकृति या अस्वीकृतिकी मुद्रा भी प्रदर्शित कर सके, नीलसुन्दरका मेघ-गम्भीर स्वर सर्वत्र गूँज उठा, वे अभिनवकौतुकी क्रीडानायक पुकार उठे—'अरे भैयाओ! अब तो पहले हमलोग भलीभाँति बलाबलका निर्णय करके दो दलोंमें बँट जायँ और तब खेलें।'—

तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित्।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। १९)

सकल गोप टेरे जदुनाथा।
क्रीडा रत बोले गहि हाथा॥
अहो मित्र! द्वैहौं मिलि साथा।
खेल खेलियै, होहु सनाथा॥
बल-बय सरिस आपने जानी।
जुग-जुग मिलि आवहु मन मानी॥
× × ×
कहत कि सुनहु भिया ही हीरी।
अवर खेल खेलहु बटि बीरी॥
द्वै द्वै कै कै आवहु ऐसें।
बल अरु अबल जानि कै जैसें॥
× × ×
सखा सिगरे निकट बोलत।
स्याम तिन सो बचन खोलत॥
सुनहु, सिसु! सब खेल छाँड़हु।
हौं कहतु, सोइ खेल माँड़हु॥

क्या क्रीडा होगी—यह घोषणा तो श्रीकृष्णचन्द्र कर ही देंगे। किसे अवकाश है कि वह पूछे। वहाँ तो नीलसुन्दरके इस आदेशके साथ ही आनन्दकी सहस्र-सहस्र धाराएँ उमड़ चलीं और गोपशिशु उसमें बहने लगे 'कन्नू रे! भैया रे! तुमने हमारी मनचाही कर दी!'—

इस उन्मादी साधुवादके स्वरमें सबने ही समर्थन किया; और तो क्या, स्तोककृष्ण भी—जो सदा दलबंदीका प्रस्ताव आनेपर भयभीत हो जाता, चिढ़ने लगता—किलक उठा; ताल ठोंककर उसने भी अनुमोदन किया। फिर क्या था, सर्वसम्मतिसे गोपशिशुओंने दलके अधिनायकका निर्णय किया; एकका नेतृत्व करेंगे बलराम तथा दूसरेका श्यामसुन्दर। यह हो जानेपर कुछ तो स्वेच्छासे श्रीकृष्णचन्द्रके अनुयायी बन गये और कुछ श्रीरामके। कुछने क्रीडामें विभाग करनेके नियमोंका अवलम्बन लिया

और उसके अनुसार विभक्त हुए। इसके अतिरिक्त शेष बालक विभाग कर देनेका अधिकार भी अपने प्राणसखा 'कन्हू' को ही दे देनेका निश्चय कर उनकी ओर देखने लगे। और यह लो! आज श्रीकृष्णचन्द्रने भी—पता नहीं क्यों—एक-एक शिशुको इस क्रमसे ही अपने पक्षमें लिया जो अपेक्षाकृत अपने प्रतिस्पर्धीसे न्यून बलशाली है। जो हो, श्रीकृष्णचन्द्रके मनोऽभिलषित दो विभाग प्रस्तुत हो गये—

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। २०)

सुनत सखा सब अति हरषाने।
द्वै मुखिया करि सब बिलगाने॥
बीरी बाँटि कीन्ह द्वै जूथा।
राम-कृष्न द्वै जूथप जूथा॥
एक ओर भए कन्हाइव।
एक ओर जु राम भाइव॥
सखा प्रभु सबरे गनावतु।
जुगल जुग जोरिन लगावतु॥

आजके खेलमें कौन किसका प्रतिस्पर्धी है—यह निर्णय भी स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनने ही कर दिया। श्रीबलराम हुए शिशुछद्मधारी प्रलम्बके प्रतिस्पर्धी और स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने अपने लिये वरण किया श्रीदामको—

×××बलप्रलम्बौ श्रीदामात्मानौ मिथः प्रतिसंघट्टिनौ संघटय्य×××।
(श्रीगोपालचम्पूः)

आप श्रीदामहि बुलावतु।
राम अरु असुरहि मिलावतु॥

अब श्रीकृष्णचन्द्रने क्रीडाका नाम एवं विवरण सबको सुना दिया। क्रीडा है 'हरिणाक्रीडन' नामक। दो-दो बालक हिरनकी भाँति चौकड़ी भरते हुए एक निर्दिष्ट स्थानकी ओर चलेंगे। जो पहले उस लक्ष्यको स्पर्श कर ले, वह विजेता है। फिर उस विजेताको वह पराजित बालक अपनी पीठपर चढ़ाकर या तो मुख्य स्थानपर ले आये अथवा एक निर्दिष्ट स्थानतक पीठपर चढ़ाये हुए ले जाय और ले आये।

यह विवरण समाप्त होते-न-होते गोपशिशुओंने तो खेल आरम्भ कर दिया। दो-दोकी अगणित जोड़ियाँ एक साथ उठ गयीं। और फिर तो देखने ही योग्य है उन बालकोंके द्वारा हरिणोंका अनुकरण। इस एक क्रीडाको ही उन सबोंने न जाने कितने विविध रूपोंमें सजा दिया—

हरिणाक्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः।
प्रकुर्वन्तो हि ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्थितौ॥
(श्रीविष्णुपु० ५। ९। १२)

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः।
(श्रीमद्भा० १०। १८। २१)

जे जीते ते चढ़ि चले, हारे बहैं सु ताहि।
एहि बिधि क्रीडा रचि तहाँ खेलत अति चित चाहि॥

अधिनायक राम, कृष्ण एवं उनके प्रतिस्पर्धी प्रलम्ब तथा श्रीदामकी बारी पीछे आयेगी। अभी तो शिशुओंके उद्दाम कौतुकका प्रवाह है। वाग्वादिनीको भी उनके कण्ठकी ओटसे अवसर मिल गया है। न जाने कैसी-कैसी अद्भुत विचित्र एवं रसमयी, प्रतिभामयी तुकबंदियोंकी रचना कर वे शिशु अपने आन्तरिक उल्लासको व्यक्त कर रहे हैं—

....।
आवन लागे धरि-धरि नाम॥
कोउ लेउ चंद, कोउ लेउ सूर।
कोउ खजूर, कोउ लेहु बबूर॥

किंतु अब प्रलम्बको त्वरा है—'कैसे इन दोनोंको उठाकर ले भागूँ?' फिर तो तत्क्षण ही अनन्तैश्वर्यनिकेतन व्रजेन्द्रनन्दनके हृत्तलपर भी उसकी यह त्वरा प्रतिचित्रित हो जाती है। वाञ्छाकल्पतरु ही ठहरे वे। तुरंत बोल उठे—'अच्छा श्रीदाम! आओ, तुम मेरे साथ और यह मेरा नवीन मित्र होड़ बद रहा है दाऊ दादासे। देखें, जय किसकी होती है। सामने वह भाण्डीरका विशाल वृक्ष है न? वही अवरोहणस्थान निर्दिष्ट हुआ। विजेताको वहाँतक देखो, इस स्थानसे आरम्भ करते

हुए पीठपर वहन करना होगा! और फिर उस वटकी शाखाका स्पर्श कर यहाँ इसी मुख्य स्थानपर लौटना है, भला! अब चलो, हमलोग चलें; और भैयाओ! तुम सब लोग भी परस्पर अपनी-अपनी जोड़ीके साथ एक बार जमकर खेल लो।'

जो हारै, सो लेइ चढ़ाइ।
बट भंडीर तीर लै जाइ॥

यह कहते-कहते ही उनके बिम्बविडम्बि अधरोंका स्मित किञ्चित् गम्भीर हो उठा। और वह देखो—श्रीदामके साथ ही वे उछल पड़े। प्रलम्ब भी कूदा बलरामके साथ। अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके सहित वे अगणित शिशु भी चौकड़ी भरने लगे—

कृष्णः श्रीदामसहितः पुप्लुवे गोपसूनुना।
संकर्षणस्तु प्लुतवान् प्रलम्बेन सहानघ॥
गोपालास्त्वपरे द्वन्द्वं गोपालैरपरैः सह।
(श्रीहरिवंश १४। १९-२०)

कौन जान सकता है व्रजेन्द्रनन्दनकी गूढ़ अभिसंधिको। इधर तो कौतुकका आनन्द उद्वेलित हो उठा है और उधर नीलसुन्दर—कालियके सहस्र फणोंको चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र पराजय स्वीकार करने जा रहे हैं। वे तो करेंगे ही। उन्हें प्रलम्बके पीठपर बलरामको चढ़ाना जो है!

तदेवं कुतूहले तु प्रबले बलं प्रलम्बस्कन्धारूढं संधातुं जितभुजगभुजः श्रीबलानुजः पराभवमगणयत्×××
(श्रीगोपालचम्पूः)

केवल वे अकेले हारे हों, सो नहीं; उनके दलका प्रत्येक शिशु ही पराजित हो गया—

लै गए मारि टोल बल प्यारे।
कमल-नयन दिसि के सब हारे॥

और अब आगे—जय हो लीलाविहारीकी! अनन्तब्रह्माण्डभाण्डोदर स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन पराजित होकर विजेता श्रीदामको अपनी पीठपर चढ़ाकर लिये जा रहे हैं भाण्डीर वटकी ओर। साथ ही प्रलम्बके पीठपर आसीन हैं श्रीबलराम एवं भद्रसेन वहन कर रहा है वृषभको। इसी प्रकार अन्य समस्त विजयी बालक भी अपने पराजित प्रतिद्वन्द्वी शिशुकी पीठपर चढ़, आनन्दकोलाहल करते चले जा रहे हैं। तृण चरती हुई असंख्य गोराशि भी उनका अनुसरण कर रही है—

वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। २२, २४)

बहत-बहत ग्वाल हरि-संगी।
गोधन-ब्यूह चरत बन रंगी॥
बट भांडीर नाम है जासू।
गए कृष्न-संगी तहँ आसू॥
श्रीदामा कौं पीठि चढ़ाई।
हरि लै चले आपु नराई॥
अजित-पराजय सुनी न काना।
भक्त-अधीन एक भगवाना॥
बृषभ नाम एक गोप अनूपा।
भद्रसेनि तेहि बह सुखरूपा॥
बलजू कै लै चल्यौ प्रलंबू।
चल्यौ सीघ्र, नहिं करेउ बिलंबू॥
× × ×
श्रीदामा हरि पर चढ़ि चले।
को ठाकुर, जो खेल मैं रलै॥
बल प्रलंब पर सोहत ऐसें।
सो उपमा अब कहियत कैसें॥
बट भंडीर तीर लगि चढ़े।
लै गए बालकेलि रस बढ़े॥

इसके पश्चात् तो कुछ क्षणोंमें ही बहुत-सी घटनाएँ घटित हो गयीं—' श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनके दलके समस्त शिशु विजेताओंको पीठपर धारण किये हुए, अवरोहणस्थानका स्पर्श कर पीछेकी ओर लौट चले; किंतु प्रलम्ब नहीं लौटा, अपितु वह अवरोहणकी सीमासे पार चला गया। इतनी देर साथ रहकर प्रलम्बने यह देख लिया था कि नन्दनन्दनका अपहरण उसके

द्वारा सम्भव ही नहीं, इतना दुर्धर्ष है यह श्यामवर्ण शिशु; और इसलिये अत्यन्त द्रुत वेगसे केवल रोहिणीनन्दनको ही ले भागनेके उद्देश्यसे वह आगे बढ़ गया। अवश्य ही कुछ पद बढ़ते ही उसे प्रतीत हुआ—'ओह! इस बालकमें तो सुमेरु पर्वतसे भी अधिक भार है। इस शिशु-वेशसे तो मैं इसे वहन कर ही नहीं सकता।' सचमुच बलरामके भारसे उसकी गति रुद्ध हो चुकी थी। इस प्रकार बाध्य होकर वह तत्क्षण ही अपने सुबृहत् असुररूपमें व्यक्त हुआ। उसका वह काला-काला शरीर स्वर्णाभूषणोंसे अलङ्कृत था और उसपर विराजित थी श्रीबलरामकी शुभ्र छटा। उन गौर-सुन्दरकी संनिधिसे उस दैत्यकी अद्भुत शोभा हुई—मानो विद्युत्प्रभामण्डित मेघ पूर्ण शशधरको धारण किये हुए हो! अब वह पृथ्वी-पथका परित्याग कर आकाशमार्गमें उठ चुका था। बड़े वेगसे जा रहा था वह! उसकी आँखें प्रज्वलित अग्निकी भाँति धक्-धक् जल रही थीं। उग्र दन्तपंक्तियाँ भौंहोंतक पहुँची हुई थीं। सिरपर अग्निज्वालाके समान ऊपर उठे हुए केश थे। हाथ-पैर वलयसे अलङ्कृत थे। सिरपर मुकुट सुशोभित था। कर्ण-छिद्रोंमें कुण्डल जगमगा रहे थे। इन आभूषणोंसे उसके काले शरीरपर एक विचित्र-सी कान्ति फैली थी। एक बार तो प्रलम्बके इस महाभयंकर रूपको देखकर बलराम किञ्चित् भयभीत-से हो उठे और सहसा मुँहसे निकल पड़ा—'कृष्ण! अरे भैया रे·····!' किंतु उन महामहिमको स्वरूपस्मृति होते कितनी देर लगती। वे लीलामय प्रभु तुरंत अपने स्वरूपमें स्थित हो गये। हाँ, बाह्यदृष्टिमें इतना-सा निमित्त अवश्य हुआ—अग्रजके द्वारा वह 'कृष्ण-कृष्ण' का आह्वान अनुजके कर्णपुटोंमें जा पहुँचा था और अनुजने भी अविलम्ब प्रत्युत्तर दिया था—'सर्वात्मन्! सम्पूर्ण गुह्य पदार्थोंमें अत्यन्त गुह्यस्वरूप होकर भी आप यह स्फुट मानव-भावका अवलम्बन क्यों कर रहे हैं?××× अमेयात्मन्! अपने स्वरूपका स्मरण करें आप और फिर इस मानवभावकी ओटमें ही इस दैत्यका विनाश कर दें।' अग्रजने वैसे-के-वैसे अपने छोटे भाईकी बात मान ली। तुरंत उनकी स्वरूपभूत निर्भयता उच्च हास्यके रूपमें बाहर व्यक्त हो उठी और फिर रोषमें भर गये वे प्रभु—'अरे! जैसे धन अपहरणकर चोर उसे लेकर भाग चले, इस प्रकार यह मुझे चुराकर आकाशपथसे भाग रहा है। अच्छा·····!' बस, पलक गिरते-न-गिरते प्रलम्बके सिरपर रोहिणीनन्दनने अपनी एक दृढ़ मुट्ठीकी चोट लगा दी। पर उस मुट्ठीका वेग ऐसा था, मानो सुरेन्द्रने किसी पर्वतपर वज्रप्रहार किया हो। इसीलिये इसका स्पर्श होते ही प्रलम्बका सिर चूर्ण-विचूर्ण हो गया, मुखसे रक्तका प्रवाह फूट निकला। चेतना तो लुप्त हो ही चुकी थी, केवल एक महाभयंकर शब्दमात्र—सिरका कचूमर निकल जानेके अनन्तर भी न जाने कैसे—वह व्यक्त कर सका। पर इतनेमें तो उसका वह प्राणशून्य विकराल कलेवर वृन्दावनकी उस पावन धरापर गिर चुका था—मानो सचमुच ही सुरराजका वह वज्रप्रहार सफल हो गया हो और उससे आहत एक महान् पर्वत ही धराशायी हो गया हो।

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुंगवः।
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम्॥
तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः॥
निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्
प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम्।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १८। २५—२७)

किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते।
सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया॥
तत् स्मर्यतामममेयात्मंस्त्वयाऽऽत्मा जहि दानवम्।

मानुष्यमेवावलम्ब्य..... ॥

(श्रीविष्णुपु० ५। ९। २३, ३३)

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥
स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥

(श्रीमद्भा० १०। १८। २८-२९)

कान्ह कुँवर की दृष्टि बचाइ।
असुर अवधि तैं आगे जाइ॥
अपने रूपहि आश्रित भयौ।
तब हीं अंबर लौं चढ़ि गयौ॥
ता छिन भयौ भयानक भारी।
पहिरें कंचन भूषन कारी॥
ता पर संकर्षन अति सोहे।
ब्रज बालक बिलोकि सब मोहे॥
जो होइ कारी भारी घटा।
बिच-बिच चमकै दमकै छटा॥
ऊपर सरद-चंद होइ जैसें।
सोहैं रोहिनि-नंदन तैसें॥
बिकट बदन अरु बड़े दंत।
बिकट भृकुटि, दृग अग्नि बमंत॥
तपत ताम्र-से सिररुह लसे।
दिखि तब हलधर रंचक त्रसे॥
पुनि सुधि आइ तनक मुसुकाइ।
दियौ जु मुठिका मूँड़ बनाइ॥
किरच-किरच ह्वै गयौ लिलार।
मुख तैं चली रुधिर की धार॥
धरयौ प्रलंब न कछु संभारयौ।
गिरि जस गिरत बज्र कौ मारयौ॥

× × ×

अरुन नैन ह्वै गए, साँस छाँड़त तिस रतिय।
आय बरन आवेस बीर रस महँ मन मतिय॥
महाबाहु बलभद्र! अमित बल बिक्रम धारिय।
मुष्टि तौलि तिहि हनिय कोटि बज्रहु ते भारिय॥
खल घात होत आघात इमि जनु पर्बत पर पबि परिय।
सिरु फूटि रुधिरधारा स्रवत चीतकार करि महि परिय॥
कहुँ कुंडल मनि, मुकुट मनि, कहुँ बिभूषन माल।
राम बिरोधी फल मिल्यौ, परयौ प्रतक बेहाल॥

अन्तरिक्षचारियोंने यह भी स्पष्ट देखा—प्रलम्बके शरीरसे एक सुदीर्घ ज्योति निकली और रोहिणीनन्दनके अङ्गोंमें विलीन हो गयी—

तज्ज्योतिर्निर्गतं दीर्घं बले लीनं बभूव ह।

(श्रीगर्गसंहिता)

और जिस समय बलरामका नीलसुन्दर एवं गोपशिशुओंसे मिलन हुआ—ओह! कोई कैसे भर दे वाणीके क्षुद्र पात्रमें उस अपरिसीम आनन्दसिन्धुमें उठी हुई असंख्य ऊर्मियोंको!

मरयौ जिवै, तिमि प्रीति जुत, मिलत हिऐं करि चाव।

× × ×

प्रेम भरे चित आइ, अंक लाइ पुनि-पुनि मिलत।

पारिजातग्रथित मालाओंसे एवं राशि-राशि अन्य स्वर्गीय कुसुमोंसे वनको धरा आच्छादित हो चुकी है। फिर भी सुरवृन्दोंके द्वारा रोहिणीनन्दनके अभिषेकका, स्तवनका विराम कहाँ हो रहा है!—

सुमन बरषि, झर लाइ, साधु-साधु कहि सब्द पुनि॥
जस गावहिं सुख पाइ, बार-बार बहु बिनय जुत॥

× × ×

अमर-निकर बर अतिसय हरषे।
बल पर सुमन सु-सुंदर बरषे॥

कंसके अनुचरोंका मुञ्जाटवीमें स्थित गोवृन्दको पुनः दावाग्निसे वेष्टित करना और भयभीत गोप-बालकोंका श्रीकृष्ण-बलरामको पुकारना; श्रीकृष्णका बालकोंको अपने नेत्र मूँदनेको कहकर स्वयं उस प्रचण्ड दावानलको पी जाना

खेलमें उलझे हुए गोपशिशु तो गोधनकी सँभालकी बात सर्वथा भूल गये और गौएँ—आश्चर्य है, जो श्रीकृष्णचन्द्रके दृष्टिपथसे ओझल होते ही तृण चरना स्थगित कर देतीं, वे आज क्रमशः सुदूर वनस्थलीकी ओर अपने-आप बढ़ती ही चली गयीं। उनकी आँखोंमें नित्य विराजित नीलसुन्दरके स्थानपर न जाने कैसे हरित तृणोंका लोभ झलमल कर उठा और फिर भ्रान्त-सी बनकर तृण चरती हुई वे आगे-से-आगे चलकर एक गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं—

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। १)

खेलत-हँसत ग्वाल मन लाई।
स्वेच्छा चरति धेनु सुख पाई॥
तृन-लोभित गईं गहन गँभीरा।
गईं दूरि चलि हे नृप धीरा॥

वृन्दावनका प्रत्येक स्थल ही सदा हरितिमाका पुञ्ज बना रहता है; कहीं भी दृष्टि डालें, श्यामल तृणोंकी प्रचुरता है। इन तृणोंसे गायोंकी उदरपूर्ति होते देर नहीं लगती और उनके पर्याप्त चर लेनेके अनन्तर भी वहाँ, उस स्थलपर ही वैसी-की-वैसी हरियाली, उतनी-की-उतनी मृदुल सुकोमल तृणाङ्कुर-राशि लह-लह करने लगती है। फिर भी आज गायें प्रलुब्ध होकर आगे चली गयीं—वे गायें, जिनके अङ्ग-संस्थानका प्रत्येक कण सच्चिदानन्दमय है, जो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी नित्य-पार्षदभूता हैं, जो सदा श्रीकृष्णचन्द्रकी सहचारिणी हैं, नीलसुन्दरके योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ चारु चरणोंका, मुखारविन्दका नित्य दर्शन करती रहती हैं, व्रजराजनन्दन जिनके अङ्गोंका स्वयं अपने हस्तकमलोंसे सम्मार्जन करते हैं, यशोदा-प्राणधनकी वह ललित त्रिभंगी सुन्दर छबि जिनके पृष्ठ-देशसे संलग्न होकर वनमें विराजित रहती है, जो स्वयं भी व्रजेश-तनयके प्यारसे नित्य-निरन्तर आप्यायित रहकर अपने सद्योजात वत्सतकको भूली रहती हैं—अचिन्त्य लीला-महाशक्तिकी प्रेरणाके अतिरिक्त उसमें और कारण ही क्या हो सकता है? तृण-लोभसे ये मुग्ध हो सकें, यह तो सम्भव ही नहीं; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुमें ये स्वतः अभिनिविष्ट होतीं नहीं, हो सकतीं नहीं। यह तो—वह देखो! विनष्ट हुए प्रलम्ब दैत्यके मित्र कंसके वे अनुचर घातमें बैठे हैं, उनके मलिन मनकी छाया लीलाविहारी व्रजराज-दुलारेके सलोने दृगोंमें अङ्कित हो रही है और फिर उसीके संकेतसे लीला-महाशक्तिने तदनुरूप साज सजाया है।

अस्तु, आगे तो सघन वन है; गायें इससे आगे जा सकतीं नहीं। कलिन्दनन्दिनीकी वह शीतल धारा दूर—अत्यन्त दूर हो गयी है। अब यहाँ तो ग्रीष्मके सूर्य हैं, उनका ताप है। यहाँ जलकी एक बूँद भी नहीं, शीतल-मंद-सुगन्ध समीरका प्रवाह नहीं। और तो क्या, पीछे लौट चलनेका मार्गतक नहीं। सरकंडोंका यह वन है, आगे बढ़ते ही पीछेसे पथको आवृत कर देनेवाले इन मुंजों (सरकंडों)-के जालमें फँसकर वे लौटनेका पथ नहीं पा सकतीं। बेचारी गायें विकल होकर डकराने लगीं—

मुंजारन्य नाम है जहाँ।
अति गहवर, सुधि परत न तहाँ॥
आगे कुंज-पुंज अति भीर।
नहिन नीर परसै न समीर॥
मारग नहिं जु उलटि इत फेरै।
गोधन-बृंद सु क्रंदन करै॥

और इधर क्रीडामें तन्मय हुए नीलसुन्दरके अधरोंपर हँसी-सी व्यक्त हुई। गोपशिशुओंने उस हास्यकी ओर

देखा। क्रीडाके विरामका संकेत तो उसमें था ही, साथ ही कुछ और नवीनता थी उसमें। इसीलिये बालक चारों ओर देखने लगे तथा लीला-महाशक्तिको जो कुछ उन्हें दिखलाना अभीष्ट था, उसे तुरंत ही देख लिया सबोंने—

खेल छाँड़ि जो इत-उत चहैं।
गोधन कहूँ निकट नहिं लहैं॥

फिर तो केवल शिशुओंके ही नहीं, राम-श्यामके मुखपर भी गम्भीर चिन्ताकी स्पष्ट रेखा व्यक्त हो उठी। अत्यन्त पश्चात्ताप होने लगा उन्हें अपनी इस असावधानतापर। इधर-उधर दौड़कर उन्होंने गायोंको पर्याप्त ढूँढ़ा भी; पर कुछ भी पता नहीं लग सका कि गायें किधर चली गयीं—

तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। ३)

गोप कृष्न-बलदेव समेता।
खेल तज्यौ जब कृपा-निकेता॥
देखहिं ग्वाल, गाइ नहिं एकू।
खोजन लगे सु सहित बिबेकू॥
इत-उत खोजि, देखि चहुँ ओरा।
नहिन लह्यौ गोधन कौ छोरा॥

व्रजवासियोंकी सम्पत्ति, उनकी जीविकाका एकमात्र साधन ये गौएँ मिल नहीं रही हैं, इससे कितने व्याकुल हो उठे वे शिशु—यह कोई उन्हें प्रत्यक्ष देखकर ही अनुभव कर सकता है। 'भैया रे कन्नू! क्या मुँह दिखायेंगे हमलोग बाबाको, मैयाको!'—शिशुओंकी यह आर्त्तवाणी सर्वत्र अरण्यमें गूँज उठती है। उनका धैर्य छूटने लगता है। किंतु राम-श्यामके प्रोत्साहनसे जैसे भी हो, उन्हें ढूँढ़ लेनेका ही निश्चय किया गया। सब-के-सब गायोंके खुर एवं दाँतोंसे कटे हुए तृणोंके पीछे, एवं स्थान-स्थानपर आर्द्र धरापर बने हुए खुरोंके चिह्नोंका अनुसरण करते हुए आगे बढ़े—

तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम्।
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। ४)

देत खुरन तृन तूटे देखी।
पुनि अंकित पद भू-थल पेखी॥
तेहि मग चले सकल अकुलाई।
अति चिंता गोपन उर छाई॥
धेनु जीविका है सब जासू।
नष्ट-चित्त सब ह्वै गए आसू॥
उभय भ्रात बिनु सब अकुलाने।
ढूँढ़त गोधन सब बिलखाने॥

बहुत दूर चलनेके अनन्तर जब उस मुञ्जाटवीका आरम्भ हुआ, तब गौओंका वह आर्त्तनाद उन्हें सुन पड़ा। किंतु आगे सरकंडोंके गहन वनमें वे प्रविष्ट हो सकें, यह तो सम्भव ही नहीं। श्रान्त हुए वे सब शिशु अपने सखा 'कन्नू' भैयाकी ओर ही देखने लगे—

आगें अति गहबर दिखि चके।
धसि न सके तित ही सब थके॥

तथा उनकी ओर देख लेनेपर अबतक कहाँ किसे निराशा मिली है? फिर शिशु तो उनके प्राण-सखा ठहरे। तत्क्षण लीला-विहारीने गायोंको बुला लेनेकी एक अतिशय सुन्दर युक्ति निकाल दी। जय हो नीलसुन्दरकी, उनकी उस मनोहर भङ्गिमाकी! वह देखो—

तब हरि इक कदंब पर चढ़े।
छाजत तिहि छिन अति छबि बढ़े॥
जनु सब कृत कौ फल रस-पग्यौ।
इहि कदंब एकै यह लग्यौ॥
चंचल दृगन की इत-उत हेरनि।
मधुर-मधुर टेरनि, पट फेरनि॥
मुकट की झलकनि, कुंडल-झलकनि।
कछु-कछु राजति गोरज अलकनि॥
लै-लै नामन गाइन टेरे।
यह छबि सदा बसहु मन मेरे॥

कदम्बकी उस उत्तुङ्ग शाखापर अवस्थित होकर परब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु मेघमन्द्र स्वरमें गायोंका नाम ले-लेकर पुकार रहे हैं—'अरी पिशङ्गि! मणिकस्तनि! री प्रणतशृङ्गि! पिङ्गेक्षणे! अरी, आ जा री मृदङ्गमुखि, धूमले, शबलि हंसि! वंशीप्रिये·····।' तथा सहसा अपने नामोंका आह्वान सुनकर, उस करुण-क्रन्दनका अवसान होकर कितनी प्रहर्षित हो उठी हैं वे पथभ्रष्ट असंख्य गायें! उनके पास और तो साधन ही क्या है, हाँ, बारंबार हुंकार कर वे अपने पालकको प्रत्युत्तर दे रही हैं। उनके तुमुल हाम्बारवसे सम्पूर्ण वन

प्रतिनादित हो रहा है—

ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। ६)

लै-लै नाम तासु जगदीसा।
टेरयौ मेघ-गिरा-धुनि ईसा॥
हे गंगे-जमुने, हे धौरी।
हे स्यामा, गौरी, हे गौरी॥
सुनि निज नाम धेनु हुंकारी।
आईं दौरत निकट मुरारी॥

सागरकी ओर प्रसरित सुरसरिकी शत-सहस्र धाराके समान वे गायें श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दौड़ चलीं—

बगदीं उत तैं चाइन-चाइन।
हरि-मुख तैं सुनि अपने नाइन॥
प्रेम सहित आवनि, हुंकारनि।
सींचत धरनि दूधकी धारनि॥
आनि जु भईं धेनु इकठोरी।
धौरी-धौरी, प्रति छबि बोरी॥
सब कैं कंठनि कंचन-माला।
सोहत सुंदर नयन बिसाला॥
घनन-घनन घंटागन गजैं।
अमरराज-गजकी छबि लजैं॥
हरि सनमुख आवति उमहि, उज्ज्वल गोधन-नार।
समुदहि मनहुँ मिलन चली, गंग भई सतधार॥

गोप-शिशुओंने उन्हें एकत्र सम्मिलित किया तथा सबका अब आन्तरिक प्रस्ताव यही है—'चलो, अब गायोंको गोष्ठकी ओर हाँक दो।' किंतु इससे पूर्व कि यह प्रस्ताव कार्यमें परिणत हो, वहीं अचानक चारों ओरसे एक महाभयंकर दावाग्नि धक्-धक् कर जल उठी। भला, इससे अधिक सुन्दर अवसर कंसके उन अनुचरोंको मिलता जो नहीं। वे समीपमें अवस्थित रहकर देख चुके हैं किस प्रकार बलरामने देखते-देखते ही तनिक-सी देरमें प्रलम्बका अन्त कर दिया। फिर तो अपने स्वजनका वह अन्त उनके लिये असह्य बन गया और अवसरकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे वे। इसीलिये अत्यन्त शीघ्रतासे उन सबोंने सम्पूर्ण मुञ्जाटवीको घेर लिया तथा श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अपना वैर साध लेनेकी दृष्टिसे चटपट ऐसी भीषण अग्नि प्रज्वलित कर दी कि जिसका निवारण किसी प्रकार भी सम्भव न हो!

तदेवं यदालम्भि चास्तम्भि च नैचिकीनिचयस्तदानीमेव च दृष्टं निर्विलम्बप्रलम्बप्रणयचराः कंसचरा लब्धावसरा मुञ्जाटवीमुद्भटचेष्टतया वेष्टयित्वा निर्निवारणकृपीटकारणवृष्टिं झटिति××× तस्मिन् प्रतिपक्षताकल्पनया निसृष्टवन्तः।
(श्रीगोपालचम्पूः)

ओह! कैसी प्रचण्ड है वह वनवह्नि!—

दसौं दिसानि पै कृसानु झार-झार धाइ कैं।
प्रचंड मंडि ब्यौम लौं सिखी सिखा बढ़ाइ कैं॥
झँझाइ कैं झकोर झोंक उग्र ऊक फूटहीं।
महाभयान भीम रूप सौं भभूक छूटहीं॥
सधूम देखियै अकास धुंध रुंध जाइ कैं।
दिसानि द्वार दाबियौ सगाढ़ आढ़ छाइ कैं॥
सँसातु पौन साँइ-साँइ सबैरातु धावहीं।
प्रकोप भौरि भर्भरातु झर्झरातु आवहीं॥
त्रनादि चटचटात पट-पटात वेनु-जाल सौं।
चिरादि चर्बरात तर्तरात हैं तमाल सौं॥
फलादि फूटि-टूटि झूमि भूमि में परैं तहाँ।
उड़े फुलिंग फैलि गैल घेरि कैं फिरैं महाँ॥
समूल भस्मभूत होत अग्नि के अकूत सौं।
अँगार उल्ककादि दारु होत तेज तूत सौं॥
चिहारि चीह घुर्घुरात हैं बराह दाह सौं।
हुँकारि हूँक दै कपीस कूदहीं उछाह सौं॥
गँगाइ ब्याघ्र साँस रूँध धूम्र जोर सौं उठैं।
उछार लेत झार सौं बिहाल भूमि पै लुठैं॥
हकारि रिच्छ खर्भराइ भागि सो दुराइ कैं।
सकाइ सूखि साँस लै ससा चलै सँसाइ कैं॥
हहाइ कै मृगी-मृगनि चौक भूलि कैं गए।
उफाल फाल बाँधि कैं सुनैन मूँदि कैं लए॥
कढ़े सुदौर दर्बराइ हर्बराइ भागि कैं।
बिहंग भर्भराइ कैं चले अकास लागि कैं॥

अब तो बालकोंके भयका पार नहीं। किंतु आश्चर्य है, ऐसे भीषण प्राणसंकटके समय भी उनके अन्तस्तलमें अपनी प्राणरक्षाकी चाह न जगकर व्याकुलता उत्पन्न हुई नीलसुन्दरकी रक्षाके लिये। इसी समय किसी अचिन्त्य प्रेरणासे उन्हें स्मृति हो आयी दो वर्ष

पूर्व तपन-तनयाके तटपर रात्रिके समय प्रज्वलित हुए दावानलकी। उस समय व्रजपुरवासियोंने किस उपायका अवलम्बन लिया था—इसे किसी अलक्षित शक्तिने उनके हृत्पटपर ज्यों-का-त्यों चित्रित कर दिया। साथ ही, अबतकका उनका अनुभव है, ऐसे अनेक अवसरोंपर वे देख चुके हैं—'जब कभी भी हमलोगोंपर संकट उपस्थित हुआ है और हमें बचानेकी तीव्र इच्छा कन्नू भैयामें जाग्रत् हुई है, उस समय कन्हैयामें अत्यधिक शक्तिका संचार हो जाता है।' इस भावनाने भी उनके मनको भावित किया। सबके हृत्तन्त्रीके तार अपने-आप जुड़-से गये, सबने मन-ही-मन स्थिर किया—'कन्नू भैयाकी रक्षाका उपाय तो यही है कि हम सब इससे, इसके सम्बन्धमें कुछ भी न कहकर केवल अपनी रक्षाकी बात ही कहें,—उसी प्रकार, जैसे उस रात्रिको व्रजपुरवासियोंने कहा था—फिर तो निश्चय ही कन्हैयामें हमें बचानेकी तीव्र भावना जाग्रत् होगी और जहाँ उसमें यह इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर तो तदनुरूप शक्तिका बारम्बार यथेच्छ प्रकाश भी इसमें होकर ही रहेगा।' अतएव इस प्रकारकी भावना लिये सभी बालकोंने नीलसुन्दरके समक्ष एक स्वरसे अपनी रक्षाकी ही याचना की—

दावाग्निं दृष्ट्वा ते यदपि हरिरक्षापरतया
समीयुर्वैयग्र्यं तदपि निजरक्षामवृणुत।
प्रसक्तिस्तस्येत्थं किल भवति सा चेदुदयते
तदा शक्तिश्चास्य प्रभवति यथेच्छं मुहुरिति॥
(श्रीगोपालचम्पू:)

इतनेमें तो दावाग्निज्वाला और भी निकट आ पहुँची। नीलसुन्दरकी ओर दृष्टि करके गायें डकराने लगीं—

निहारि धेनु तर्फरैं सँधट्ट बाँधि घेरि कैं।
हुँकार दै रँभा उठैं सुनंद-नंद हेरि कैं॥

फिर तो, अपनी स्मृतिके आधारपर शिशु भी उन पुरवासियोंकी भाँति ही अविलम्ब, कातरकण्ठसे पुकार उठे—

कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामितविक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः॥
नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। ९-१०)

'महाप्रभावशाली श्रीकृष्ण! भैया श्रीकृष्ण! परम बलशाली बलराम! देखो, दावाग्निसे हम सब भस्म होने जा रहे हैं हो! तुम दोनों हम शरणागतोंकी रक्षा कर लो! अहो कृष्ण! भला, तुम जिनके बान्धव हो—तुमपर ही जिनका सर्वस्व अवलम्बित है, उन्हें किसी प्रकारसे भी दु:खभागी नहीं ही होना चाहिये। हमारे लिये एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, हमारी एकमात्र तुममें ही निष्ठा है। अपना एवं हमारा क्या धर्म—कर्तव्य है, इसे तुम जानते हो। अतएव इस समय भी तुम्हें जो करना है, वह करोगे ही।'

राम-कृष्न हम सरन तिहारी।
राखहु तुम अब, हे दनुजारी॥
दावानल यह प्रबल न थोरा।
जारत नाथ! जीव बरजोरा॥
राखनहार नाथ! तुम अहहू।
अमित पराक्रम गति बल सबहू॥
ख्याति सुहृद तव दास हम, निज करि नंदकिसोर।
तव जन कहँ नहिं दुख घटै, इमि कह सब सिरमौर॥
हमरे तुम इक नाथ, तव पद-पंकज आस एक।
राखहु सब गहि हाथ, करुनासिंधु कृपाल तुम॥
अति सरास तहँ अगिनि ककुभ कोसन कहँ पूरत।
त्रन बन घन संघात जात बरबर कहँ घूरत॥
झपटत लपट लपेट दीह दारुन दव धावत।
उठतु भयंकर भहरि अवनि अंबर कहँ तावत॥
जग जीव बिकल खरभर परे, गोप पुकारत हैं सरन।
जग जानि कान्ह! रक्षा करहु, त्राहि-त्राहि करुना करन॥

अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति नित्य सख्यरससे भावित रहनेवाले उन शिशुओंके मनमें उनकी अपरिसीम भगवत्ताका उन्मेष कभी भी नहीं होता। यह तो लीलाशक्तिकी प्रेरणासे उनमें अनुकरणकी वृत्ति जाग उठी है, 'ऐसा कहनेसे ही मेरे कन्नूमें उस दिन एक विचित्र-सी शक्ति जाग उठी थी, आज भी जाग उठेगी और फिर यह दावानलको शान्त कर देगा'—इस भावनासे परिभावित होकर ही वे ऐसा कह गये हैं। अन्यथा अपनी प्रार्थनाके वास्तविक रहस्यका उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। वे तो, बस, अपने कोटिप्राणप्रिय सखा 'कन्नू' भैयाकी प्राणरक्षाके लिये अपनी जानमें सर्वोत्तम उपायका आश्रय ले रहे हैं, पुरवासियोंकी अनुकृति मात्र कर रहे हैं। हाँ, सर्वथा

उनकी अनजानमें ही उनके मुखद्वारा आनुषङ्गिक रूपसे इसीमें प्रपञ्चके त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये यह परम आश्वासनमय संकेत अवश्य व्यक्त हो जा रहा है—'संसारके जीवो! यदि इस भवाटवीमें धधकती हुई आगसे त्राण पानेकी इच्छा हो तो ऐसे ही 'कृष्ण-कृष्ण·····' पुकार उठना! फिर देखो, क्या-से-क्या हो जाता है।'

अस्तु, उनकी वह पुकार समाप्त होते-न-होते महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें तदनुरूप संकल्पका भी सृजन हो ही गया। वे महामहिम सोचने लगे—'ओह! अपने आत्मस्वरूपकी अपेक्षा भी मुझे अधिक प्रिय मेरे ये बन्धुजन इस दावानलको देखकर अत्यधिक संतप्त हो रहे हैं। इसलिये इस प्रचण्ड वनवह्निको मैं अब निगल जाऊँ—भले ही यमराज या ब्रह्मा अथवा स्वयं हर ही इस रूपमें व्यक्त क्यों न हुए हों।'

आत्मनोऽप्यलममी मम प्रिया हा! दवं प्रतिदवं सप्रियति।
गीर्णमेव करवाण्यमुं ततः को यमः क इह वा भवेद्धरः॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

'किंतु मेरेद्वारा अग्निभक्षण होते देखकर इसे सह जो नहीं सकेंगे ये मेरे शिशु सखा!'—

किंतु मया वैश्वानरनिगरणं न सोढुं परिवृढा भवेयुरेत इति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

बस, श्रीकृष्णचन्द्रका मधुस्यन्दी स्वर गूँज उठा—'भैयाओ! डरो मत, तुम सभी अपने नेत्र निमीलित कर लो तो!'—

निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत।

(श्रीमद्भा० १०। १९। ११)

और शिशु तो नीलसुन्दरके किसी भी आदेशकी अवज्ञा करना जानते ही नहीं। सबने तत्क्षण अपनी आँखें मूँद लीं। उनकी विशुद्ध सख्य-रस-भावित बुद्धिने एक अत्यन्त सुन्दर यह निर्णय जो दे दिया—'कन्हैया भैयामें अब शक्ति तो अवश्य जागेगी, पर वह भी तो इस शक्ति-उन्मेषके लिये आखिर कुछ-न-कुछ तन्त्र-मन्त्रका आश्रय लेगा ही। कनू भैया अग्नि-विष आदिकी शान्तिके सम्बन्धमें मणिमन्त्र-महौषधके अनेक प्रयोग जानता है और इन प्रयोगोंके लिये यह नितान्त आवश्यक है ही कि उस सम्बन्धमें कुछ भी दूसरोंके समक्ष न किया जाय। एकान्त हुए बिना वे सिद्ध ही नहीं होते। अब यहाँ इस जनसमुदायमें हमारे नेत्र मूँद लेनेसे ही वह एकान्तकी विधि पूरी हो जायगी। इसलिये कनूने आँखें बंद करनेकी बात कही है। अतः हमलोग दृढ़तासे अपनी आँखें मूँद लें।'

वह्निविषादिनामुपशमकं मणिमन्त्रमहौषधादिकमयं कृष्णो बहुतरं जानातीति तच्च विविक्तं विना न सिद्ध्येदतोऽत्र जनसंघट्टे अस्माकं लोचननिमीलनमेव विविक्तमित्यभिप्रेत्यैवं ब्रूते तद् वयं दृढतरमेव स्वनेत्रे निमीलयाम इति।

(श्रीसारार्थदर्शिनी)

इधर शिशुओंकी आँखें निमीलित होते ही श्रीकृष्णचन्द्रकी अघट-घटना-पटीयसी योगमाया-शक्तिका विकास हुआ। देखते-देखते ही नीलसुन्दरके मृदुल सुकोमल श्रीअङ्गोंके अन्तरालसे तत्क्षण ही महाजलधरतुल्य एक प्रकाण्ड विग्रहका आविर्भाव हुआ। विग्रहके अनुरूप ही उसमें अत्यन्त सुबृहत् मुख है। यह लो, वह मुख खुल पड़ा और वे महामहेश्वर उस मुखके पथसे ही अनायास उस सर्वभक्षक दावानलको पी गये!

निमीलद्विलोचनेषु च तेषु तदावेशवशया कृतप्रवेशया योगमायया तत्कालकल्पितमहाजलधर-कल्पापरशरीरस्तत्रत्येनानल्पेनाननेन तमदुःखत एव सर्वं विभक्षन्तं भक्षितवान्।

(श्रीगोपालचम्पूः)

अवश्य ही पीते समय वह महाभयंकर वनवह्नि श्रीकृष्णचन्द्रकी अलङ्घनीय इच्छाशक्तिके प्रभावसे सुधामधुर पानीयके रूपमें परिणत हो गयी—

तदिच्छया सुधाचुलुकायमानमिति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

चंदन चंद समान, अनल-तेज सीतल भयौ।
जन हित कीन्हौं पान, को प्रभु दीन-दयाल-सौ॥

दावानल-पानके अनन्तर श्रीकृष्णका व्रजमें लौटना और व्रजसुन्दरियोंका उनका दर्शन करके दिनभरके विरह-तापको शान्त करना

एक क्षण बीतते-न-बीतते नीलसुन्दरने पुकारकर कहा—'भैयाओ! अपनी आँखें खोल लो।' और शिशुओंने पलक उघाड़कर देखा। फिर तो एक साथ सभी विस्मित हो उठे—'अरे! यह तो भाण्डीर-वट है। कहाँ गया वह मुञ्जका वन, क्या हुई वह दावाग्नि, अपने-आप हम सब वहाँसे यहाँ कैसे चले आये? जलने जा रहे थे हम सब, गायें उस भीषण ज्वालासे चीत्कार कर रही थीं; किंतु किसीको कुछ भी न हुआ। हम सभी सुरक्षित यहाँ आ पहुँचे। यह तो विचित्र-सी बात है हो! कन्हूने तो हद कर दी रे!'

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १३)

ता छिन नैन उघारि सखा सब देखहीं।
खेलत पूरब खेल तहीं चलि लेखहीं॥
सो थल जाइ निहारि रहे चकचौंधि हैं।
मोहन जानि प्रभाव करे सब चौंधि हैं॥

× × ×

दृग उघारि जो चहहिं अभीर।
ठाढ़े बट भांडीर के तीर॥
कहन लगे अति बिस्मय पाए।
कित हम हुते, कितै अब आए॥

भय तो कुछ रह नहीं गया था अब। अतएव उसी विशाल वटके नीचे शिशुओंकी गोष्ठी आरम्भ हुई, विचार होने लगा—'आखिर यह अत्यन्त आश्चर्यमयी असम्भव घटना संघटित हुई तो कैसे! अधिक-से-अधिक मन्त्र-तन्त्रके प्रभावसे दावानलकी ज्वाला हमें जला नहीं पाती, हम सब उसके बीच रहकर ही उससे बच जाते; किंतु बिना प्रयास एक क्षणमें ही इन असंख्य धेनुसमूहोंके साथ इतनी दूर कैसे आ गये? सोचो, पहले तो वह वनवह्नि-जैसी भयानक थी, उसे देखते मान ही लेना पड़ता है कि साधारण मन्त्रवेत्ताकी शक्तिके बाहरकी बात है उसे शान्त कर देना और हम सबोंको बचा लेना। अब भला, तन्त्रविज्ञानका कितना बड़ा अनुभवी है वह हमारा कन्नू! क्योंकि जो कुछ किया है वह तो सब-का-सब हमारे कन्हैयाने ही किया है! उसीकी अचिन्त्य महाशक्तिके प्रभावसे ही तो हम सबकी रक्षा हुई है और फिर ऐसी रक्षा कि अनजानमें ही हम सभी विपत्तिके उस स्थानतकसे हटकर—उससे बहुत दूर अपनी पूर्व-परिचित सुन्दर समतल भयशून्य भूमिपर भी आ पहुँचे!'—इस प्रकार न जाने कितने संकल्प-विकल्प उन शिशुओंके मनमें उदय हुए तथा अन्तमें सर्वसम्मतिसे यह निर्णय हुआ—'देखो, यह जो हमलोगोंका कन्नू है, वह कोई देवता है!'

कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १९। १४)

यह जु नंद कौ नंदन आहि।
भिया! मनुज जिनि जानहु याहि॥
देवन में जु देव बड़ कोई।
हम जानहिं कि आहि यह सोई॥

× × ×

निज मोधन लखि अग्नि तें, अति बिसमय चित आनि॥
मान्यौ कृष्ण कृपाल कौं, बिबुध-रिषभ सुख-दानि॥

सखाओंकी बात सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र हँसने-से लगे। फिर अस्ताचलगामी भुवनभास्करकी ओर अपने दक्षिण हस्तसे संकेत करते हुए बोले—'भैयाओ! उस ओर भी देखो! कितनी चिन्ता हो रही होगी मैयाको। ओह! आज वनमें कितना विलम्ब हो

गया। अब तो क्षणभरका भी अवकाश नहीं। चलो, गायोंको गोष्ठकी ओर हाँक दो!' और यह कहकर नीलसुन्दरने अधरोंपर वंशी रखकर स्वर भरना आरम्भ किया। उनका यह स्वर कितना उन्मादी है—इसे व्रजके कीट-पतङ्ग-भृङ्गतक जानते हैं। अभी-अभी जो शिशु उन्हें देवता मानने लगे थे, सब-के-सब बह चले वंशीके उस मधुमय प्रवाहमें। अचिन्त्य शक्तिमत्ताकी वह भावना, वह देवता-बुद्धि न जाने कहाँ विलीन हो गयी! नीलसुन्दरकी ग्रीवासे झूल-झूलकर स्नेह प्रदर्शित करते हुए उन सबने गायोंको गोष्ठकी ओर प्रेरित किया, साथ ही अपने सुरीले कण्ठोंकी तान भी छेड़ दी। वंशीका स्वर एवं उनके गीतकी स्वर-लहरी—दोनोंका संयोग अद्भुत ही है। एक ओर अत्यन्त स्पष्ट प्रत्येक गायका नाम नीलसुन्दरके वंशीछिद्रोंसे झरता जा रहा है और वे गायें भी उसी क्रमसे गोष्ठकी ओर संचालित होती जा रही हैं तथा दूसरी ओर गोपशिशुओंके संगीतमें प्रलम्बासुरके विनाशका, दावानलपानका सुयशगीत—नीलसुन्दरकी अद्भुत महिमा, भूरि-भूरि प्रशंसा व्यक्त हो रही है तथा उन-उन भावोंसे परिभावित हुए वे शिशु तदनुरूप विविध भङ्गिमाओंका प्रकाश करते हुए नाचते चल रहे हैं। कितनी देर लगती गोष्ठ पहुँचनेमें; क्योंकि अब पथमें क्रीड़ा तो होगी नहीं। बस, यह रहा सामने व्रजपुरका तोरणद्वार और श्रीबलरामके साथ नीलसुन्दर गोष्ठमें प्रविष्ट हो रहे हैं—

गाः संनिवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः॥
(श्रीमद्भा० १०। १९। १५)

साँझ भएँ सब गोपनि-गोधन हेरि कैं।
मंदिर जात सम्हारि सबै धन हेरि कैं॥
स्याम सुबेन बजाइ चले तहँ रंग में।
गावत ग्वाल अनंद भरे सब संग में॥
× × ×
आगैं धरि लै गोधन बृंद।
चले सदन ब्रज कदन-निकंद॥
मधुर-मधुर धुनि बेनु बजायत।
बालकबृंद सुकीरति गावत॥

इधर व्रजपुरवासियोंकी विशेषतः गोपसुन्दरियोंकी क्या दशा है, इसे कोई कैसे जाने। वहाँ तो मुञ्जाटवीमें एक दावानल फूटा था। पर यहाँ व्रजके प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपसुन्दरीके हृदयका वह भाव-पुष्प-पल्लवमय मनोहर उद्यान विरहाग्निकी भीषण ज्वालासे धक्-धक् जल रहा है। नीलसुन्दरका एक क्षणके लिये अदर्शन उन रागमयी पुर-रमणियोंकी दृष्टिमें शत-सहस्र युगोंका व्यवधान प्रतीत होने लगता है, उनके प्राण जलने लगते हैं। कदाचित् श्रीकृष्णचन्द्रकी अखण्ड स्मृति रह-रहकर उनमें प्रत्यक्ष संयोगकी भ्रान्ति न उत्पन्न करती रहती तो वे सचमुच उनके वनगमनके अनन्तर सायंकालतक भी जीवन धारण कर पातीं या नहीं—यह निर्णय कर लेना सहज नहीं है। इसीलिये व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रका दर्शन पाकर एक अप्रतिम परमानन्दसिन्धु उच्छलित हो उठा है उन गोपरामाओंके हृदेशमें। तथा कितनी भाव-विह्वल हो उठी हैं वे, इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई देख भले ले; वाग्वादिनी तो इसका एक अल्प-सा अंश भी चित्रण करनेसे रही। अवश्य ही उनके अन्तस्तलकी वही रसमयी अनुभूति तरलित होकर प्रतिफलनके रूपमें इन शब्दोंकी ओटसे किंचिन्मात्र झलमल-सी कर उठी है, इसमें कोई सन्देह नहीं—

प्रभु मुख पंकज स्वेद मधु, गोरज लगिय पराग।
तिय मन मधुकर रमत तहँ, पियत उमगि अनुराग॥
गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १६)

अस्तु, नीलसुन्दर तो अपनी जननीके भुजपाशमें जा बँधे और जननी उन्हें लेकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़ीं; किंतु गोपसुन्दरियाँ अब पहलेकी भाँति नीलसुन्दरके समक्ष, उनके साथ जा नहीं पातीं। एक विचित्र-से शील-संकोचका आवरण आ जाता है

उनके मनपर, नेत्रोंपर। इसीलिये आज भी न जा सकीं। यन्त्र-परिचालित-सी हुई सब-की-सब लौट आयीं अपने-अपने गृहमें। पर इससे क्या हुआ? नीलसुन्दर तो उनके समक्ष ही अवस्थित हैं और वे भावनामें तन्मय हो रही हैं—

सुधालावण्यमाधुर्यदलिताञ्जनचिक्कणः ।
इन्द्रनीलमणिः किं वा नीलोत्पलरुचिप्रभः॥
किं वा नव्यतमालोऽपि मेघपुञ्जमनोहरः।
प्रभा मारकतीकान्तिः सुधालावण्यवारिधिः॥
पीतवस्त्रपरीधानो वनमालाविभूषितः।
नानारत्नभूषिताङ्गो नानाकेलिरसाकरः॥
दीर्घकुञ्चितकेशोऽपि बहुगन्धसुगन्धितः।
नानापुष्पमालया च चूडादीप्तिर्मनोहरा॥
श्रीमल्ललाटपाटीरसितिलकालककशोभितः ।
लीलोन्नतभ्रूविलासकामिनीचित्तमोहनः॥
घूर्णमानं सुनयनं रक्तनीलोत्पलप्रभम्।
खगेन्द्रचञ्चुलावण्यसुनासाग्रजसुन्दरः॥
मनोहारिकर्णयुग्मं मणिकुण्डलशोभितम्।
नानामणिकुण्डलाढ्यगण्डस्थलविराजितम्॥
मुखपद्मं सुलावण्यं कोटिचन्द्रप्रभाकरम्।
नानाहास्यसुमधुरश्चिबुको दीप्तिमान् भवेत्॥
कण्ठदेशः सुलावण्यो मुक्तामालाविभूषितः।
त्रिभङ्गो ललितस्निग्धग्रीवस्त्रैलोक्यमोहनः॥
वक्षःस्थलं च लावण्यै रमणीरमणोत्सुकम्।
मणिकौस्तुभविद्युद्दामुक्ताहारविभूषितम्॥
आजानुलम्बितभुजौ केयूरवलयान्वितौ।
रक्तोत्पलहस्तपद्मौ नानाचिह्नसुशोभितौ॥
गदाशङ्खयवच्छत्रचन्द्रार्द्धाङ्कुशशोभितौ ।
ध्वजपद्मयूपहलघटमीनविराजितौ॥
उदरं च सुमधुरं लावण्यकेलिसुन्दरम्।
पृष्ठपार्श्वं सुधारम्यं रमणीकेलिलालसम्॥
कटिबिम्बं सुधाम्भोजं कन्दर्पमोहनोत्सुकम्।
रामरम्भे इवोरू द्वौ नारीमोहनकारकौ॥
जानू द्वौ च सुलावण्यौ मधुरौ परमोज्ज्वलौ।
पादपद्मौ सुमधुरौ रत्ननूपुरभूषितौ॥
जवापुष्पसमरुची नानाचिह्नसुशोभितौ।
चक्रार्द्धचन्द्राष्टकोणत्रिकोणयवशोभितौ॥
अम्बरच्छत्रकलशशङ्खगोप्यदस्वस्तिकौ ।
अङ्कुशाम्भोजधनुषा जाम्बवेन च शोभितौ॥
अङ्गुल्योऽरुणभाः सम्यङ्नखचन्द्रसमन्विताः।
श्रीयुतौ चरणाम्भोजौ नानाप्रेमसुखार्णवौ॥

'अहा! प्रियतम श्रीकृष्ण कितने मनोहर हैं। उनका वर्ण पिसे हुए काजलके समान सुचिक्कण है! परंतु काजलमें सुचिक्कणताके अतिरिक्त कौन-सा गुण है? जो काजल सुधाके समान शीतल, सरस, मादक और प्राणोंको आप्यायित करनेवाला हो, साथ ही लावण्य एवं मधुरतासे युक्त हो, वही श्रीकृष्णके वर्णकी उपमाको पा सकता है। परंतु उसमें प्रकाश कहाँ? हाँ, इन्द्रनीलमणि उसकी इस कमीको पूरा कर सकती है। पर इन्द्रनीलमणिमें प्रकाश होनेपर भी वह है अत्यन्त कठोर। फिर उसमें श्रीकृष्णके वर्णकी समता कैसे आ सकती है। हाँ, नीलकमल उनके अङ्गोंकी कोमलताको किसी अंशमें पा सकता है। अथवा नवीन तमालके साथ उनकी तुलना की जा सकती है। सरसताकी दृष्टिसे हम उनके श्रीअङ्गोंको मेघमालाकी उपमा भी दे सकते हैं। उनके अङ्गोंसे जो कान्तिकी किरणें फूट रही हैं, वे मरकतमणिकी आभाको हेय बना दे रही हैं। परंतु इन सब उपमानोंके गुण परिच्छिन्न हैं, ससीम हैं। हमारे प्राणवल्लभ तो माधुर्य एवं लावण्यके अपरिसीम सागर हैं। उनके श्रीअङ्गोंमें पीताम्बर झलमला रहा है, वक्षःस्थलपर रंग-बिरंगी वनमाला झूल रही है। अङ्ग-अङ्गपर रत्नजटित आभूषण शोभा पा रहे हैं। विविध प्रकारके क्रीड़ा-रसके वे अनुपम आकर हैं। लंबी घुँघराली अलकें हैं, जिनसे विविध प्रकारका सुवास प्रसरित हो रहा है। केशपाश विभिन्न पुष्पमालाओंसे सुशोभित है। ओह कितनी मनमोहक बन गयी है इनसे चूड़ाकी कान्ति! चमकते हुए ललाटपर चन्दनकी खौर अत्यन्त शोभा दे रही है, बीचमें गोरोचनका सुन्दर तिलक है और दोनों ओर अलकावली झूल रही है।

लीलायुक्त चढ़ी हुई भौंहोंके विलाससे वे हम कामिनियोंका चित्त अपहरण कर रहे हैं। उनके झूमते हुए कमनीय नेत्र बीचमें नील कमल एवं प्रान्तोंमें लाल कमलोंकी छटा धारण किये हुए हैं। गरुड़की चोंचके समान नुकीली नासिकाके अग्रभागमें मुक्ताफल लटक रहा है। इससे उनकी शोभा कितनी बढ़ गयी है! दोनों कान स्वभावसे ही मनोहर हैं, विविध-मणि-जटित मकराकृति कुण्डलोंसे वे और भी भले लगते हैं। उनका प्रतिबिम्ब दर्पण-सदृश कपोलोंपर पड़ रहा है, जिससे वे कपोल और भी चमक उठे हैं। लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेर रहा है। ठोड़ी विविध हास्यरसकी छटासे अत्यन्त मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत हो रही है। कण्ठ-देशमें मुक्ताहार सुशोभित है। अहा! कितना लावण्य भरा है इस कण्ठमें! त्रिभङ्गी मुद्रासे खड़े हुए वे त्रिलोकीको मोहित कर रहे हैं। ग्रीवाकी मरोड़ कैसी मधुर एवं आकर्षक है! वक्षःस्थल तो मानो लावण्यका आकर ही है, हम व्रजाङ्गनाओंको परमानन्द दान करनेके लिये नित्य उत्सुक है यह! मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ तथा विद्युत्के समान चमचम करती मुक्तामाला उसकी शोभाको द्विगुणित कर रही है। घुटनोंतक लटकती हुई दोनों भुजाओंमें केयूर एवं कङ्कण शोभा पा रहे हैं। रक्त कमलके समान लाल-लाल करतल विविध चिह्नोंसे सुशोभित हैं। गदा, शङ्ख, यव, छत्र, अर्द्धचन्द्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमल, यूप, हल, कलश एवं मत्स्यके चिह्न कितने मनोहर हैं! उदर अत्यन्त मनोमोहक है, उसपर लावण्य अहर्निश क्रीड़ा करता रहता है। पृष्ठदेश एवं पार्श्वभाग भी अमृतके समान मधुर हैं। हम व्रजरमणियोंके साथ दिव्य चिन्मय विहार करनेके लिये सदा चञ्चल हैं ये। वर्तुल नितम्बभाग सुधा-सम्भृत कमलके समान मादक है। कंदर्प स्वयं मोहित है इसे देखकर। दोनों ऊरु मनोहर कदली-स्तम्भोंकी शोभाको परास्त कर रहे हैं। हम व्रज-सुन्दरियोंका मन मुग्ध हो रहा है इन्हें देखकर। दोनों घुटने कितने लावण्ययुक्त, मनोहर एवं चमकीले हैं! चरणकमल भी परम मनोहर एवं रत्नजटित नूपुरोंसे मण्डित हैं। जवापुष्पके समान लाल-लाल चरणतल अनेक चिह्नोंसे सुशोभित हैं। चक्र, अर्द्धचन्द्र, अष्टकोण, त्रिकोण, यव, आकाश, छत्र, कलश, शङ्ख, गोपद, स्वस्तिक, अङ्कुश, कमल, धनुष एवं जम्बूफलोंकी कितनी मनोहर कान्ति है! अरुण चरणोंकी अङ्गुलियोंके नख चन्द्रमाओंके समान प्रतीत हो रहे हैं। उनकी शोभा अपूर्व है। विलक्षण प्रेम एवं आनन्दके सिन्धु हैं ये!'

अवश्य ही पुरसुन्दरियोंकी इस भावनाका उद्वेलन होनेमें अभी किञ्चित् विलम्ब है। पहले पावसमें रसकी सरिता प्रसरित होगी, उसमें वे अवगाहन करेंगी। फिर क्रमशः शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्ममें उनकी भावना तदनुरूप उद्दीपनोंसे सुसज्जित होगी—वे गोपसुन्दरियाँ विविध भावमय शृङ्गार धारण करेंगी। पुनः पावसका विकास होगा और उसके अवसान होनेपर शारदीय सुषमा व्रजपुरको अलंकृत करेगी और इन ऋतुओंमें गोपरामाओंका भी पुनः भावमय अभिषेक होगा तथा ये नीलसुन्दरके प्रति आत्मसमर्पणके योग्य वेश-भूषासे विभूषित होंगी। इतने दिनों बाद—अबसे लगभग पंद्रह मासके पश्चात्, तब कहीं अवसर आयेगा; इनकी यह भावना अन्तस्तलसे बाहरकी ओर अनर्गल प्रसरित होने लगेगी। इस प्रबल प्रवाहमें लोकलज्जाका बाँध भी टूट पड़ेगा और ये मुक्तकण्ठसे पुकार उठेंगी—

नंदलाल सौं मेरौ मन मान्यौ, कहा करैगौ कोय री।
हौं तौ चरन-कमल लपटागी, होनी होय सो होय री॥

व्रजमें पावसकी शोभाका वर्णन

ग्रीष्मका अवसान हुआ और व्रजपुरकी धराको अलंकृत करने वर्षा-ऋतु आ गयी। जहाँ, जब कभी भी यह आती है, स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें ही नवजीवनका संचार होता है, उनकी वंशपरम्परा बढ़ती है। सभी स्वागत करते हैं इसका। दिक्सुन्दरियाँ सौदामिनीका वलय धारण कर इसका अभिनन्दन करती हैं। सूर्य, चन्द्र अपने चारों ओर मण्डलका निर्माण करके इसे सम्मान-दान करते हैं। आकाश बारम्बार गम्भीर नादके रूपमें जयघोष करता है। आनन्दमत्त पवन प्रत्येक गृहद्वारपर, गवाक्ष-जालोंके समीप राशि-राशि बूँदोंकी मुक्ता बिखेरकर अपना उल्लास व्यक्त करता है—

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ३)

प्रथमहिं प्रावृट् प्रगटित तहाँ।
सब जंतुन कौ उद्भव जहाँ॥
छुभित जु गगन पवन संचरै।
रबि अरु ससि कहुँ मंडल परै॥

इस बार यह व्रजेन्द्रनन्दनके अष्टम वर्षकी वर्षगाँठ देखने आयी है। व्रजपुरके आकाशमें वितान तानकर प्रतीक्षा कर रही है। अगणित मनोरथ हैं इसके तथा उन-उन भावोंसे भावित होकर वृन्दाकाननको, नन्दरायके व्रजमण्डलको इसने विभूषित किया है। अब कवियो! तत्त्वदर्शियो! अपने श्रीकृष्णरसभावित मनके निराविल स्रोतमें प्रतिचित्रित उन भावोंका जो जितना अंश लेना चाहो, ले लो और फिर उसको किञ्चिन्मात्र वाणीसे व्यक्त कर दो। उसकी प्रतिच्छायाके दर्शनसे प्रपञ्चके प्राणियोंका अशेष मङ्गल होगा; क्योंकि तुम्हारा वर्णन आश्रित है उस पावसपर, जो व्रजेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाका उपकरण है; तुम्हारी आँखें डूबी हैं नीलसुन्दरके चारु चरण-सरोरुहमें और उसी मकरन्दसे सुवासित होकर ही उपमाएँ व्यक्त होंगी तुम्हारी वाणीके पथसे।

अस्तु, वह देखो व्रजपुरका दिव्यातिदिव्य चिन्मय धाम और उसके आकाशमें छायी हुई निबिड नील अम्बुदराशि! रह-रहकर विद्युत् कौंध उठती है और फिर मेघ-गर्जनका तुमुल नाद परिव्याप्त हो जाता है। सूर्य, चन्द्र एवं तारक-समूह सर्वथा आवृत्त हो चुके हैं, गगनतलसे मानो अन्तर्हित हो गये हों—ठीक उस प्रकार जैसे स्वप्रकाश परमानन्द ब्रह्म-स्वरूप जीव प्रकृतिके त्रिगुण—सत्त्व, रज एवं तमसे आवृत्त हो जाता है। बस, तडित्-लहरी-सी उसमें सत्त्वकी जागृति रहती है, रजोमय नादका बोल-बाला होता है और तमका घन आवरण तो सतत उसपर रहता है ही। हाँ, वास्तवमें विद्युत्का, मेघ-गर्जनका, मेघोंका ज्योतिष्क-मण्डलसे कोई सम्बन्ध नहीं; ये उसे आवृत कर ही नहीं सकते; आवरण तो दर्शकके दृष्टिपथपर रहता है, अपने स्थानपर ज्योतिष्कमण्डल प्रकाशित है ही। वैसे ही इन गुणोंसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, जीवका आवरण इन प्राकृत गुणोंके द्वारा सम्भव ही नहीं; यह तो अज्ञानजन्य प्रतीतिमात्र है, जीव स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप है ही। अवश्य ही अपने ऐसे स्वरूपका भान जीवको तभी होता है, जब उसकी आँखें उन सान्द्र-नीलद्युति व्रजराजतनयकी ओर केन्द्रित हो जाती हैं, उसके सत्त्वके आलोकको नील-सुन्दरकी चरण-नख-चन्द्रिका आत्मसात् कर लेती है, उसकी रजसे भरी 'मैं'-'मेरे' की गर्जना उनके मधुमय कण्ठसे निस्सृत मुरलीके स्वरमें विलीन हो जाती है, उसके तमकी कालिमा उन निरञ्जनकी नीली ज्योतिमें घुलकर उनके नेत्र-सरोजोंका आभरण—सेवाका उपकरण बन जाती है। जगत्के जीवो! कदाचित् व्रजपुरके आकाशमें छायी वर्षा-ऋतुके अन्तरालसे व्यक्त हुए इस संकेतको तुम हृदयंगम कर लेते।

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ४)

नील-बरन नीरद उनए।
गरजि-गरजि नभ छादत भए॥
जैसें सगुन ब्रह्म यह जीय।
सत-रज-तम करि आवृत कीय॥

दिनमनि बिंब ब्योम आच्छादित सघन घननि में देखौ।
मानहुँ ब्रह्म छप्यौ माया में, यह उर अंतर लेखौ॥
बिसद भेस परिबेस रेख ससि गेरि गरद फिरि आई।
मानहुँ ईस-जीव जुग राजत, इहि प्रकार छबि छाई॥

अब देखो, देव अंशुमालीके विशाल हृदयकी भावनाको। अपनी किरणोंके सहारे आठ मासतक—कार्तिकसे आरम्भ करके ज्येष्ठतक— उन्होंने धराकी रसरूपी सम्पदा, सरिता-जलाशयोंका जलरूपी सम्पत्ति ग्रहण की थी; किंतु समय आते ही उन्हें तनिक भी संकोच नहीं हुआ और उन्मुक्त हृदयसे अपनी उस संचित सम्पत्तिको वे प्रत्यर्पित कर दे रहे हैं। उस समय धरा रससे पूरित थी, सरिता एवं जलाशयमें तरंगें उठ रही थीं। इसीलिये किरणमालीने उसका कुछ अंश लेना आरम्भ किया था; ले-लेकर वे उसे मेघके रूपमें संचित करते जा रहे थे। परंतु जब ग्रीष्मके आवेशसे धरणी रसशून्य होने लगी, ग्रीष्मतापसे पीड़ित हो उठी, तब वे तपनदेव तुरंत ही वर्षाके रूपमें वह रस, वह सम्पदा लौटाने लग गये। न्यायी, धर्मनिष्ठ राजा भी तो यही करता है। प्रजाका सम्पत्ति बढ़ जानेपर समुचित राज्य-'कर' के रूपमें ग्रहणकर उसे अपने कोशमें संचित रखता है और जब प्रजाको उसकी आवश्यकता होती है, तब उन्मुक्तभावसे उसे लौटा देता है। प्रजाकी सम्पत्ति पुनः प्रजाजनोंमें ही वितरित हो जाती है। सूर्य भी आज पावसके समय यही कर रहे हैं। लेना होता ही है देनेके लिये—सूर्यदेवका यह इङ्गित कितना स्पष्ट है! सच तो यह है कि यह गुण भुवनभास्करमें संचरित हुआ ही है व्रजेन्द्रतनयसे। वे भी लेते-से दीखते हैं; किंतु कहाँ अपने समीप रखते हैं वे किसीके द्वारा कुछ भी दी हुई वस्तुको। कितना सुन्दर बनाकर और कैसी अपरिसीम मात्रामें परिवर्द्धित करके वे अर्पित वस्तुको लौटा देते हैं—इसे देखना चाहो तो देख लो उनके चारु चरणोंमें न्यौछावर हुए प्रत्येक भक्तके जीवनमें। अतएव चिन्तित मत होना; अपितु अहोभाग्य समझना, यदि नीलसुन्दर तुम्हारी कोई-सी वस्तु ले लें। अप्रतिम सुन्दर एवं अनन्त बनकर तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही लौट आयेगी, भला!—दिवाकरका यह संकेत समझ रहे हो न?

अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ५)

अष्टमास धर कौ जल जितौ।
रस्मिन करि रबि पीयत तितौ॥
चारि मास पुनि निर्झर झरैं।
सब दुख हरैं, सुखन बिस्तरैं॥
जैसैं नृप अपनौ कर लेइ।
समय पाइ पुनि परजहि देइ॥

इन मेघोंके अन्तरालमें एक और रहस्य है—उसे देखो! ये महान् मेघ निरन्तर बरस रहे हैं। क्यों, जानते हो? अच्छा सुनो—इन्होंने अपनी विद्युत्की आँखोंसे दूसरेकी व्यथा—व्याकुलता देख ली। पवनरूपी दयाने इन्हें झकझोर दिया। उसके प्रचण्ड वेगसे परिचालित होकर ये उड़-उड़कर आ गये तथा अपने हृदयका जलरूपी सम्पूर्ण रस उड़ेलने जा रहे हैं। विश्व आप्यायित हो रहा है। सर्वथा दयाशील सत्पुरुषोंका ही स्वभाव व्यक्त हो रहा है इन महामेघोंमें। वे करुण महापुरुष भी तो यही करते हैं। जीवोंका दुःख देखते ही वे कृपा-परवश हो उठते हैं तथा अपना सर्वस्व देकर—प्राणतक न्यौछावर करके पीड़ितोंको सुख-सुविधाका दान करते हैं। किंतु यह करुणता भी आती है मूलतः उन्हीं नीलसुन्दरके सलोने दृगोंसे झरकर ही। जिनके हृदयका स्रोत 'अहम्' को विदीर्णकर उन करुणासिन्धुकी करुण लहरोंसे संगमित हो पाता है, उसीमें ऐसी दयाशीलता व्यक्त होती है। इन महामेघोंने व्रजराजनन्दनके श्रीअङ्गोंकी नीलिमाको अपनाया। बाहर-भीतर ये रँगे हुए हैं उनके रंगमें। तभी तो ये बरस रहे हैं दूसरोंके ताप-निवारणके लिये और बरसते-बरसते ये विलीन हो जायँगे इस व्रजपुरके आकाशमें, नहीं-नहीं, शरत्-कालीन जलाशयमें विकसित सुन्दरातिसुन्दर सरसिज-कर्णिकाकी सुषमा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण-नयनोंमें।

जगत्के जीवो! कदाचित् इन महामेघोंका पाठ तुम भी पढ़ सकते; नीलसुन्दरको हृदयमें बसाकर बाहर-भीतर उनके रंगमें रँग जाते! फिर तो तुम्हारा

अस्तित्व भी विश्वके लिये अशेष मङ्गलकारी होता, करुणाके झकोरोंपर उड़ते हुए तुम भी सदा रस बरसाते होते, जगत्का ताप मिट जाता और अन्तमें तुम्हारा नित्य निवास होता नीलसुन्दरके नेत्रसरोजोंमें!

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ६)

तड़ित-दृगन करि मेघ महंत।
देखो ताप तपे सब जंत॥
प्रेरे पवन सुजीवन बरषै।
सब के दुख करषै, मन हरषै॥
जैसें करुन पुरुष पर हेत।
अपने प्यारे प्रानन देत॥

किंतु यदि तुम इतने महान् नहीं बन सकते, केवल परार्थ जीवन-धारणके लिये तुम प्रस्तुत नहीं हो तो स्वार्थके लिये भी तुम इस धराका आदर्श स्वीकार करो। देखो तो सही, धरणी कैसी हो गयी थी, तप करते-करते इसकी क्या दशा थी। सचमुच अत्यन्त कृश—शुष्क हो गयी थी यह। क्यों न हो, कितने मासोंतक इसने जलकी एक बूँदको भी ग्रहण नहीं किया था। बस, नील जलधरकी आशा लगाये बैठी थी। उसका परिणाम यह हुआ है कि आखिर श्याम जलधर आया ही और जैसे सकाम तपस्वीका शरीर काम्यतपका पूर्ण फल पाकर हृष्ट-पुष्ट हो उठता है वैसे ही धरा भी जलधरकी दी हुई वारिधारासे सिक्त होकर उत्फुल्ल हो उठी है। इसी प्रकार तुम भी तपश्चर्यामें संलग्न हो जाओ, जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर एक बार सूख जाने दो अपने-आपको। किसीके द्वारा दिये हुए प्रलोभनका एक कण भी स्वीकार मत करो। बस, एकमात्र आशा लगाये रहो नवनीरदाभ गोकुलेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी। फिर तुम्हारे हृदयाकाशमें भी इन अभिनव श्यामल मेघका उन्मेष होकर ही रहेगा; इनकी दी हुई आनन्द-धारासे सिक्त होकर तुम सदाके लिये खिल उठोगे—चाहे किसी भी उद्देश्यसे तुमने इनकी आशा क्यों न लगायी हो!

तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ७)

ग्रीष्म-ताप करि कृश हुति धरनी।
सरस भई, सोहति बर-बरनी॥
ज्यौं सकाम कोउ फल कौं पाइ।
भोगन भुगति पुष्ट ह्वै जाइ॥

व्रजपुरकी पावस ऋतुमें आयी हुई संध्याके समय आकाशमें तरुवल्लरियोंकी ओटमें चमकते हुए ये खद्योत भी अपनी अनजानमें तुम्हें कुछ संदेश दे रहे हैं। एक विचित्र-सा संकेत प्राप्त हो रहा है इनसे। अवश्य सुन लो; क्योंकि तुम जहाँ हो, वहाँके कालका स्वरूप—जिस कालमें निरन्तर सावधान रहनेमें ही लाभ है—तुम जान लोगे। देखो, इस सांध्य-तिमिरमें सम्पूर्ण व्रज आच्छादित है, चन्द्र एवं शुक्र आदि तारक-मण्डलका प्रकाश सर्वथा लुप्त हो चुका है। हाँ, अगणित खद्योत अवश्य उड़ रहे हैं और उनके पुच्छदेशका प्रकाश भी दीख रहा है। अब कलियुगके समय क्या होता है, जानते हो? अच्छा सुनो, पापका तिमिर अत्यन्त घन हो जाता है। वैदिक सम्प्रदायके दर्शन तो होनेसे रहे। उनके स्थानपर अगणित पाखण्ड-मतोंका प्रचार चलता रहता है। अब तुम्हीं सोचो, जुगनूके प्रकाशमें कहीं व्रजरानीके अन्तःपुरमें विराजित व्रजेन्द्रकुलचन्द्रका दर्शन पा सकोगे! दर्शन तो दूर, नन्दभवन किस ओर है, यह अनुसंधान भी लग सकेगा क्या? इसी प्रकार तुम्हारे मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य पाखण्डमतोंसे सिद्ध हो सकेगा? उसे छोड़ो, लोक-व्यवहारका निर्वाह भी कर सकोगे क्या? अतएव ऐसी भूल मत कर बैठना कि खद्योत-प्रकाशको ही चन्द्रका प्रकाश मान लो। जिनसे प्रकाश लेकर केवल चन्द्र ही नहीं, समस्त ज्योतिष्कमण्डल प्रकाशित है, वे तो व्रजेन्द्रगेहिनीके समीप उनके पर्यङ्कपर विराजित हैं और उनके श्रीअङ्गोंकी नीली ज्योतिसे अभी इस समय भी व्रजेशका आवास, आवासका कण-कण उद्भासित है। अब यदि तुम्हें पथ नहीं दीख रहा है तो चिन्तित मत हो। तुम जहाँ, जैसे अवस्थित हो, वहींसे वैसे ही भावमय अर्घ्य—

उन खद्योतोंके आलोकको लक्ष्य करके नहीं, अपितु व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके उद्देश्यसे—समर्पित करो। फिर देखोगे, घन तिमिरका वह आवरण फट जायेगा, अपूर्व ज्योत्स्नाका विस्तार हो जायगा, खद्योत प्रकाशको आत्मसात् कर लेगी वह ज्योत्स्ना और नन्दभवनके पथके क्या, स्वयं व्रजपुरके चन्द्रमाके ही दर्शन तुम्हें वहींसे हो जायँगे—

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ८)

साँझ समै पटबिजना चमकैं।
घन करि छपे नखतगन दमकैं॥
ज्यौं कलि बिषै पाप पाखंड।
नहिन निगमके धरम प्रचंड॥

अब पुनः प्रातः हो चुका है। पावसके शृङ्गारसे सजे हुए व्रजपुरकी शोभा देखो। इन मेढकोंकी टर्र-टर्र भी निराली ही है। मेघोंका मन्द नाद सुनकर उल्लाससे पूर्ण हो उठे हैं ये सब। ऐसा लगता है मानो ये भेकसमूह गुरुकुलके ब्राह्मण बालक हों। अबतक इनके अध्यापक अपने नित्यकर्मानुष्ठानमें निरत थे और जब गुरुदेव शान्त-मौन हों तो शिष्यमण्डली भी शान्त होकर ही आचार्यके आह्वानकी प्रतीक्षा करेगी। किंतु आचार्यके नित्यकर्माचरणका अवसान हुआ। गम्भीर स्वरमें उनके द्वारा आज्ञा हुई अपने-अपने पाठ कण्ठस्थ करनेकी। फिर तो एक साथ छात्रावास गूँज उठेगा ही। मेघरूप आचार्य भी अबतक जैसे किसी नित्यकर्मानुष्ठानमें संलग्न थे। उसकी समाप्ति हुई है और गम्भीर नादसे आदेश हुआ है भेकरूप शिष्य-समुदायको अपने-अपने पाठके लिये। इसलिये इन अद्भुत ब्राह्मण-वटुकोंका अविराम शास्त्र-पाठ चल रहा है, टर्र-टर्रका शब्द थोड़े ही है यह!—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। ९)

घन-गरजनि सुनि मुदित जु भेक।
बोले धरनि अनेक-अनेक॥
ज्यौं गुरु आग्या सुनि चटसार।
चटा पढ़ि उठत एकहि बार॥
× × ×
उमँडि उमंडि मंडि मेदुकगन दस दिसि बोलत भारैं॥
जिमि रिषि सिष्य ब्रह्मवेत्ता जुरि बेद-ध्वनि उच्चारैं॥

किसी अचिन्त्य सौभाग्यसे ही वृन्दाकाननमें भेक बनकर टर्र-टर्र करनेका, नीलसुन्दरकी लीलामें उपकरण बननेका अवसर प्राप्त होता है। यह तो दूर, व्रजपुरके रजःकणमें मिल जानेका भी सौभाग्य कहाँ है? पद्मयोनि तरसते ही रह गये; अबतक कहाँ पूर्ण हुई उनकी वह अभिलाषा!—

माधौ मोहि करौ बृंदाबन-रेनु।
जिहिं चरननि डोलत नँद-नंदन, दिन-प्रति बन-बन चारत धेनु॥

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे। ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया, उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं। अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी। अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता। दूसरे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं। किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्योछावर हों। वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा

निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो। अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है, जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट नहीं होता। जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता। इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है। अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं। किंतु प्रपञ्चके जीवो! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं। उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना। देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी-स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती। किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति, जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रखा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है। स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी। देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे, धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे, इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते। किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। मर्यादा टूट जाती है, सुमार्ग छूट जाता है और निर्बाध—स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे। अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं। वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है। ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता; पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं। नीलसुन्दरके बिहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरणनखचन्द्रको ही। किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे!—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता।
उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराइ।
देह-गेह, धन-संपति पाइ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरितिमा लह-लह कर रही है। कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है। फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं। इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरितैर्हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत्॥
(श्रीमद्भा० १०। २०। ११)

बूढ़ी सूखो जु हरित भई धरनी।
उच्छिलींध्र छत्रि फबि हिय हरनी॥
जनु कोउ भूपति उतरौ आइ।
छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ॥

× × ×

तृन-अंकुर-संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं।
जिमि सुकृतिन के पुन्य पुराकृत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै।
जिमि नवनाह राजसी राजति सुंदर सुषमा साजै॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है। उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है, व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है। क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं। वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं। वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा। और उनका अधिपति है कंस। जहाँ उसकी छत्र-छाया है वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २०। १२)

निपजे क्षेत्र कागुनी धान।
तिनहि निरखि हरखे जु किसान॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं।
दैवाधीन सु जानत नाहीं॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं। सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही। कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं। संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं। पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है। यह तारतम्य भले कोई कर ले। हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्के जलज-स्थलज प्राणियो! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो। संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो। बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको। फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा। देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रितापसंतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होता ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नवधारिनिषेवया।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥
(श्रीमद्भा० १०। २०। १३)

जलके, थलके बासी जिते।
जल-सोभा करि सोभित तिते॥
जैसैं हरि-सेवा करि कोई।
रुचिर रूप अति राजत सोई॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची-ऊँची तरंगें उठ रही हैं? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टिसे देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे संगमित हो जाता है। फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है। सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है। आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग जो पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुरकी

धराके राशि-राशि रज:कण बटोरकर रविनन्दिनी ले आयी हैं। सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है, वह निधि जिसके लिये पितामह तरसते रहते हैं, स्वयं यमुना जब इन रज:कणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियोंको, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुरवासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके, व्रजाङ्गनाओंके चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका! इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है। अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमाको तो तुम्हें भी भान होता यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयंगम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्याग कर, यथायोग्य साधनानुष्ठानमें संलग्न होते तो क्रमशः इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधनानुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा। इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। वहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना, भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छविको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके संगमकी ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥
(श्रीमद्भा० १०।२०।१४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु।
उमगि ऊरमी ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक्व जोगी चित धाइ।
विषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥